राजा राममोहन राय
केशवचन्द्र सेन
स्वामी दयानन्द

: लेखक :

पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय

विषय-सूची

राजा राममोहनराय

श्री राजा राममोहनराय जी हिन्दू-धर्म सुधार के पिता थे। उनसे पहले किसी ने इस युग में धर्म-सुधार की ओर ध्यान नहीं दिया, जो बात ईसाई धर्म के सम्बन्ध में जौन विकलिफ़ (John Wycliff) के लिये कही जाती है वही हिन्दू धर्म के विषय में राममोहनराय के लिए कहनी चाहिये। राममोहनराय सुधार के लिये प्रातःकाल के तारे (Morning star of Reformation) थे। इन्होंने हिन्दू धर्म के लिये क्या किया इसको समझने के लिये पहले हिन्दू धर्म की परिस्थिति का अध्ययन करना आवश्यक है।

प्राचीन वैदिक धर्म के तत्व को लुप्त हुये सहस्रों वर्ष हो चुके थे, केवल उसका वाह्यरूप रह गया था जिसको हिन्दू धर्म कहते थे। जिस एक अद्वितीय ब्रह्म की राम, कृष्ण आदि महापुरुषों ने पुराने युगों में उपासना की थी उसको छोड़ कर लोग स्वयं उन उपासकों अर्थात् राम और कृष्ण

को ही उपास्य मान कर पूजने लगे थे। शुद्ध वैदिक यज्ञ के स्थान में पशुओं की बलि दी जाती थी, सैकड़ों देवी देवताओं के सम्मुख भैंसे और बकरे चढ़ाये जाते थे। प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था के स्थान में अनेक जाति-पांति के बन्धन उठ खड़े हुये थे, विवाह आदि संस्कार होते तो वेद मंत्रों ही से थे परन्तु वैदिक आज्ञाओं की पूर्ण रूप से अवहेलना होती थी। छोटे छोटे बच्चों के विवाह कर दिये जाते थे और लाखों लड़कियां बाल्यकाल में ही विधवा हो बैठी थीं, पातिव्रत धर्म तो नाम मात्र का था। हां पुरोहित वर्ग पति की मृत्यु पर पत्नी को स्वर्ग के प्रलोभन तथा सामाजिक दण्ड का भय दिखाकर बलात्कार पति की लाश के साथ जीवित जला देते थे और 'सती' 'सती' का ढिंढोरा पीट देते थे।

हिन्दू धर्म की यह अवस्था कई सहस्त्र वर्ष से चली आती थी, महात्मा बुद्ध और महात्मा महावीर ने बौद्ध और जैन धर्म स्थापित करके इस गड़बड़ को सुधारना चाहा। उन्होंने वेदों को मानने तथा यज्ञ करने से इन्कार कर दिया। परन्तु वैदिक संस्कृति पर उन्होंने भी बड़ा बल दिया। शंकर, रामानुज आदि ने वैदिक धर्म की फिर स्थापना की, इस

प्रकार हिन्दू धर्म में कई सम्प्रदाय हो गये। परन्तु वैदिक संस्कृति दूषित होने पर भी वैसी की वैसी ही बनी रही। लोग वेद उपनिषद् आदि का नाम लेते ही रहे। धर्म का वृक्ष सूखने लगा परन्तु मूल में कुछ हरापन था।

अब एक नया विप्लव खड़ा हुआ और मूल भी हिलने लगी। जब से मुसलमानों और ईसाइयों का देश पर आधिपत्य हुआ नैतिक परिवर्तनों के साथ साथ धार्मिक विचारों में भी उथल पुथल हुई। बाहर से आने वालों ने हिन्दू धर्म के जरजरित वृक्ष को देखा! और परामर्श दिया कि इस प्राचीन, सूखे, फलरहित, अनावश्यक, भार रूप झांकर को रखने से क्या लाभ? इसको उखाड़ क्यों नहीं फेंकते और इसके स्थान में एक ताजा, होनहार "चिकने चिकने पात" वाला बिरवा क्यों नहीं लगा देते?

इस परामर्श का भिन्न भिन्न लोगों ने भिन्न भिन्न प्रकार से स्वागत किया! कुछ कहते थे, "ठीक तो है। शक्ति का अपव्यय करने से क्या लाभ? बाप का कुआँ है इसलिये इसका ही पानी पियेंगे चाहे खारी क्यों न हो, यह तो कापुरुषों का काम है। इस खारी कुएँ को छोड़ो और मीठे कुएँ का पानी पियो।" ऐसा कहने वाले हिन्दू धर्म को त्याग कर ईसाई होने

लगे। परन्तु बहुत से लकीर के फकीर थे। उनको उनका सूखा वृक्ष ही प्यारा था। वह कहते थे :—

यही आश अटक्यो रहे,
अलि गुलाब के मूल।
अइहैं बहुरि वसन्त ऋतु,
इन डारन वै फूल॥

इनकी दृष्टि आकाश पर लगी थी। कब जल बरसे और कब उनका सूखा पौधा हरा भरा हो। जो इस वृक्ष की ओर आंख उठाता उससे यह लोग कांप जाते थे।

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दि में हिन्दू धर्म की यह अवस्था थी। अँगरेजी राज्य भारत के कुछ भागों में स्थापित हो चुका था और कुछ में स्थापित होने वाला था। विशेषकर बंगाल तो बहुत दिनों पहले से ही अँगरेजी संस्कृति से प्रभावित था। अँगरेजों का प्राबल्य उत्तरी भारत में सब से पहले बंगाल में हुआ, बंगालियों ने ही सब से पहले अँगरेजी सीखी। बंगाल में ही ईसाई धर्म सब से पहले फैला। वहीं ईसाइयों की अन्यान्य संस्थायें पहले खुलीं।

राममोहनराय ने इन दोनों अवस्थाओं को देखा। पहले तो हिन्दू धर्म तथा हिन्दुओं की गिरती हुई अवस्था, दूसरे

ईसाई धर्म तथा अँगरेजों की दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति। उनको निश्चय हो चुका था कि हिन्दू धर्म का बाह्य रूप जैसा कि वर्त्तमान समय में विद्यमान था देश और जाति को रसातल तक ले जाने के लिये पर्याप्त था। वह लकीर के फ़कीर न थे। उन्होंने अपनी दिव्य चक्षुओं से देख लिया था कि यदि हिन्दू धर्म केवल थोड़ी सी वर्त्तमान रस्मों का ही नाम है तो ऐसे धर्म को जितनी जल्दी तिलांजलि दे दी जाय उतना ही भला। परन्तु साथ ही साथ वह नये विचारों से भी सहमत न थे। उनके हृदय में देश प्रेम और जाति-प्रेम कूट कूट कर भरा था। जब वह हिन्दुओं की बुराई सुनते तो उनका हृदय संतप्त हो जाता।

अब उन्होंने निश्चय कर लिया कि यदि हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति को जीवित रखना है तो उनका सुधार करना चाहिये। और पाश्चात्य देशीय लोगों में जो गुण हैं उनका ग्रहण करना चाहिये। यह उनको भली भाँति ज्ञात हो गया था कि न तो अँगरेजी प्रभाव से सर्वथा भागने और न हिन्दू धर्म को ज्यों का त्यों मान लेने से काम चलेगा और न सर्वथा हिन्दू धर्म त्याग कर ईसाई होने से कल्याण होगा। संभवतः उनका प्रोग्राम यह था कि "अँगरेजों की उन्नति को लक्ष्य में

रखते हुए हिन्दू संस्कृति का इस प्रकार सुधार किया जाय कि उसका मौलिक रूप विकृत न होने पाये।"

राममोहनराय एक प्रतिभाशाली पुरुष थे, उनकी बुद्धि में मौलिकता थी। वह दूरदर्शी थे। उन्होंने अपने देश के सामने जो कार्य-क्रम रक्खा उसकी उनके समय की परिस्थिति से तुलना की जाय तो हम कहते हैं कि निस्सन्देह वह महापुरुष थे।

उनका जन्म सन् १७७४ ई० के लगभग हुआ। यह वही वर्ष था जब लार्ड वारन हैस्टिंग्ज़ अँगरेजों का पहला गवर्नर जनरल भारतवर्ष में नियत हुआ। यहीं से ब्रिटिश सरकार के आधिपत्य का आरम्भ समझना चाहिये। इनको फ़ारसी, अरबी तथा संस्कृत की शिक्षा दी गई।

राममोहनराय की बुद्धि का चमत्कार इसी बात से ज्ञात हो सकता है कि १६ वर्ष की अल्पायु में उन्होंने एक पुस्तक मूर्त्ति पूजा के विरोध में लिखी। (जो छपी नहीं)। इससे उनके पिता अप्रसन्न हो गये और राममोहनराय को घर छोड़ कर देश विदेश फिरना पड़ा। इस समय उनको अँगरेजी राज्य से भी घृणा सी थी। बीस वर्ष की आयु में पिता ने उनको बुला लिया। उस समय से उनका संसर्ग यूरोपियन

लोगों के साथ होने लगा जिससे पुरानी घृणा जाती रही।' वह एक पत्र में लिखते हैं :—

"Finding them generally more intelligent. more steady and moderate in their conduct, I gave up my prejudice against them, and became inclined in their favour, feeling persuaded that their rule, though a foreign yoke, would lead more speedily and surely to the amelioration of the native inhabitants."

अर्थात् "जब मुझको ज्ञात हुआ कि अँगरेज़ लोग प्रायः अधिक बुद्धिमान् अधिक धैर्यवान, और सुशील हैं तो उनके प्रति मेरी घृणा जाती रही। और मैं उनके अनुकूल होता गया। मुझे प्रतीत होने लगा कि उनका राज, विदेशी जुआ होते हुये भी देश वासियों की स्वतन्त्रता का शीघ्र और आवश्यक साधन हो सकेगा"।

परन्तु राममोहनराय को मूर्त्ति पूजा से बड़ी घृणा थी। वह लिखते हैं :—

"After my father's death I opposed the advocates of idolatory with still greater boldness. Availing myself of the art of printing,

now established in India I published various works and pamphlets against their errors, in the native and foreign languages. This raised such a feeling against me, that I was at last deserted by every person except two or three Scotch friends, to whom, and the nation which they belong, I always feel grateful."

"पिता की मृत्यु के पश्चात् मैंने मूर्त्ति पूजा के पक्षपातियों का और अधिक बल से विरोध किया। उस समय भारत में प्रेस की छपाई चल पड़ी थी। उससे लाभ उठाकर मैंने उनकी भूल दर्शाने के लिये देशी और विदेशी भाषा में कई पुस्तक पुस्तिकायें लिखीं। इसके कारण मेरा इतना विरोध हुआ कि मुझे सिवाय दो तीन स्काटलैण्ड के मित्रों के अन्य सब ने छोड़ दिया। उनका और उनकी जाति का मैं सदा कृतज्ञ हूँ।"

परन्तु मूर्त्ति-खण्डन से उनका क्या तात्पर्य था? उन्हीं के शब्दों में सुनिये।

"The ground which I took in all my controversies was, not that of oppostion *to Brahminism*,

but to a *perversion* of it; and I endevoured to show that the idolatory of the Brahmins was contrary to the practice of their ancestors, and the principles of the ancient books and authorities which they profess to revere and obey."

"सब शास्त्रार्थों में मेरा पक्ष यही रहा कि मैं हिन्दू धर्म का विरोधी नहीं किन्तु हिन्दू धर्म के बिगड़े हुए रूप का विरोधी हूँ। मैंने यह दर्शाने की कोशिश की कि ब्राह्मण आज कल जिस मूर्त्ति पूजा को करते हैं वह उनके पूर्वजों की प्रथा के प्रतिकूल है तथा उन प्राचीन ग्रन्थों और शास्त्रों के भी जिनके आदर करने और मानने का वे दावा करते हैं।"

इससे यह तीन बातें सिद्ध हो जाती हैं :—

(१) उन्होंने मौलिक संस्कृत ग्रन्थ पढ़े थे।

(२) उनको वर्तमान मूर्तिपूजा तथा अन्य रीति रिवाज उन ग्रन्थों के विपरीत प्रतीत हुये।

(३) उनका मूर्त्ति-पूजा-खण्डन ईसाई धर्म के ग्रन्थों के अवलोकन के कारण नहीं था।

उन्होंने अरबी और फ़ारसी के ग्रन्थ पढ़े थे। कह सकते हैं कि उनके ऊपर मुसलमानी धर्म का प्रभाव रहा हो—और इसलिये वह मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध हो गये हों क्योंकि मुसलमानी ग्रन्थों में बुत परस्ती (मूर्त्ति-पूजा) को बहुत ही बुरा बताया है। परन्तु राममोहनराय से पूर्व जिस किसी ने इस्लामी धर्म के प्रभाव में आकर मूर्ति-पूजा का विरोध किया उसका कभी यह पक्ष नहीं रहा कि मूर्ति-पूजा हिन्दू धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है। राममोहनराय से पहले सैकड़ों प्रसिद्ध पुरुष हिन्दू धर्म के रक्षक और इस्लाम के विरोधी हुये परन्तु उन सब का यही विचार रहा कि हिन्दू धर्म और मूर्त्ति-पूजा का तो तादात्म्य है अर्थात् यह तो प्रायः पर्य्यायवाची शब्द हैं।

इससे कहा जा सकता है कि राममोहनराय की बालकपन में ही जो यह भावना हो गई कि मूर्तिपूजा वेद विरुद्ध है और देश और जाति की उन्नति के लिये घातक है। इसको दैवी घटना ही कह सकते हैं।

उनके किये हुये उपनिषदों से उनके मन्तव्यों पर अधिक प्रकाश पड़ेगा।

ईशोपनिषद् का अंगरेजी अनुवाद १८१६ ई० में छपवाया गया था। उनके मुख पृष्ठ पर लिखा है :—

"Establishing the unity and incomprehensibility of the Supreme Being and that *His Worship alone* can lead to Eternal beatitude."*

अर्थात् ईशोपनिषत् से प्रतिपादित होता है कि परब्रह्म एक और अज्ञेय है और केवल उसी की उपासना से नित्य आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

इसी की भूमिका पढ़िये :—

The most learned Vyasa shows, in his work of the Vedant that all the texts of the Ved, with one consent, prove but the divinity of that being, who is out of the reach of comprehension, and beyond all description...........It is evident, from those authorities, that sole regulator of the universe is but one, who is omnipresent, far surpassing our powers of comprehension ; above external sense ; and whose worship is the chief

* यह उद्धरण English works of Raja Rom Mohan Rai by H. C. Sarkar, Brahma Samaj Centenary Committee. 1928 से लिये गये हैं।

duty of mankind and the sole cause of eternal beatitude, and that all that bear figure and appelation are inventions (p. 67)

"परम विद्वान् व्यास ने अपने "वेदान्त" ग्रन्थ में प्रदर्शित कर दिया है कि वेद की सब श्रुति एक स्वर से उसी परम पुरुष के देवत्व को सिद्ध करती हैं जो बुद्धि की पहुँच से परे और वाणी के व्यापार से उस पार है।......उन ग्रन्थों से प्रकट है कि जगत् का नियन्ता केवल एक है। जो सर्व व्यापक और हमारी समझने की शक्तियों से बहुत परे है। जो बाह्य इन्द्रियों से अगोचर है और जिसकी पूजा मनुष्य जाति का परम कर्त्तव्य तथा नित्य आनन्द का एक मात्र कारण है और जो कुछ रूप और नाम है वह कल्पना है।"

कहा जाता है कि ईश्वर-प्राप्ति दुस्तर है इसके विषय में वह कहते हैं :—

Should the Idolator say, "that the acquisi tion of a knowledge of God, although it is not impossible, is most difficult of comprehension," I will agree with him in that point, but infer from it, that we ought, therefore the more to exert ourselves to acquire that knowledge; but

I highly lament to observe, that so far from endeavouring to make such an acquisition, the very proposal frequently excites his anger and displeasure." (p. 69)

"यदि मूर्ति पूजक कहे कि 'ईश्वर के ज्ञान की प्राप्ति यद्यपि असम्भव नहीं तथापि अत्यन्त कठिन है' तो मैं इस विषय में उससे सहमत हो जाऊँगा, परन्तु इससे यही परिणाम निकालूँगा कि इसलिये तो और भी हमको उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये उद्योग करना चाहिये। परन्तु मन को यह देखकर अत्यन्त दुःख होता है कि इसकी प्राप्ति के लिये उद्योग करने के बजाय प्रस्ताव मात्र ही उनको क्रुद्ध और अप्रसन्न कर देता है"।

कुछ लोग कहा करते हैं कि हम मूर्तियों को ईश्वर नहीं मानते। हम उनको केवल मानसिक विकास का साधन मानते हैं। राममोहनराय इसके विरुद्ध हैं। वह कहते हैं :—

Hindoos of the present age, with a very few exceptions, have not the least idea that it is the attributes of the supreme Being, as figuratively represented by shapes corresponding to the nature of those attributes, they offer adoration

and worship under the denomination of gods and goddesses. On the contrary, the slightest investigation will clearly satisfy every inquirer, that it makes a material part of their system to hold as articles of faith all those particular circumstances, which are essential to belief in the independent existance of the objects of their idolatory as deities clothed with divine power. (p. 71).

अर्थात् दो एक को छोड़कर वर्त्तमान युग के हिन्दुओं में किसी को कुछ भी ज्ञान नहीं कि जिन देवी देवताओं की वह पूजा करते हैं वह परब्रह्म के गुणों के प्रतिनिधि रूप हैं। थोड़ी सी भी जाँच से पता लग जायगा कि यह लोग इनकी स्वतंत्र संज्ञा मानते हैं और ईश्वर मानकर पूजते हैं।

Locality of habitation and a mode of existence analogous to their own views of earthly things, are uniformly ascribed to each particular god. Thus the devotees of Siva, misconceiving the real spirit of the scriptures, not only place an implicit credence in the separate existence of Siva, but even regard him as an omnipotent being, the

greatest of all the divinities, who, as they say, inhabit the northern mountains of Cailas; and that he is accompanied by two wives and several children, and surrounded with numerous attendants. In like manner the followers of Vishnu, mistaking the allegorical representations of the Sastras for relation of real facts believe him to be chief over all other gods and that he resides with his wife and attendants on the summit of heaven. Similar opinions are also held by the worshippers of Cali, in respect to that goddess." (page 72).

"हर देवी देवता के लिये अन्य संसारी पदार्थों के समान एक रहने का स्थान है और उसी प्रकार का जीवन है। उदाहरणार्थ शैव उपासक शास्त्रों के तत्व को न समझते हुए न केवल शिव के पृथक अस्तित्व पर ही विश्वास करते हैं किन्तु उसको सर्वशक्तिमान् भी समझते हैं वह उसको सब देवों का देव, कैलाश पर्वत का निवासी, दो स्त्री, कई बाल बच्चों और सेवकों से युक्त मानते हैं। इसी प्रकार विष्णु के उपासक शास्त्रों की अलङ्कार-युक्त भाषा को ज्यों का त्यों समझकर उसको सब

देवों का राजा और स्त्री सहित स्वर्ग के ऊपर रहने वाला मानते हैं। काली देवी के उपासक काली को ऐसा ही मानते हैं।"

"When they meet in such holy places as Hardwar, Prayag, Siva-canchi or Vishnu-canchi in the Dekhin, the adjustment of the part of precedence not only occasions the warmest verbal altercations, but sometimes even blows and violence." (page 72).

"जब यह हरिद्वार, प्रयाग, तथा शिव-कांची, विष्णु-कांची आदि दक्षिण के तीर्थ-स्थानों में मिलते हैं तो अग्रगन्ता कौन हो इस प्रश्न पर न केवल झगड़ा किन्तु मार पीट भी हो जाती है।"

"For whatever Hindoo purchases an idol in the market, or constructs one with his own hands, or has one made under his own superintendence, it is his invariable practice to perform certain ceremonies called Pran-Pratishtha, or the endowment of animation, by which he believes that its nature is changed from that of the mere materials of which it is formed, and that it requires not only life but supernatural

powers. Shortly aftewards, if the idol be of the masculine gender, he marries it to a feminine one, with no less pomp and magnificence than he celebrates the nuptials of his own children. The mysterious process is now complete and the god and goddess are esteemed the arbiters of his destiny and continually receive his most ardent adoration." (page 72).

"जब एक हिन्दू बाज़ार से मूर्ति मोल लेता है, या अपने हाथों से बनाता है या किसी से अपने निरीक्षण में बनवाता है तो हमेशा वह प्राण-प्रतिष्ठा किया करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह मानता है कि प्राण-प्रतिष्ठा करने से मूर्ति की प्रकृति बदल जाती है और उसमें न केवल प्राण ही आ जाते हैं किन्तु उसमें देवत्व भी आ जाता है। यदि वह मूर्ति पुंलिङ्ग हुई तो उसका स्त्री-लिङ्ग मूर्ति से उसी धूमधाम के साथ विवाह किया जाता है जैसे अपने पुत्र पुत्रियों का। अब यह रहस्य-पूर्ण क्रिया पूर्ण हो जाती है। आज से वह उस मूर्ति को अपने भाग्य का अध्यक्ष समझता है और बड़ी भक्ति से पूजा करता है।"

"The acts and speeches of the idols, and their assumption of various shapes and colours, are

gravely related by the Brahmins, and with all the marks of veneration are firmly believed by their deluded followers." (page 73).

"ब्राह्मण लोग मूर्त्तियों के कामों और भाषणों तथा आकार और रङ्ग बदलने का वर्णन बड़ी गम्भीरता से करते हैं और उनके अन्ध-विश्वासी भक्त उन पर बड़ी श्रद्धा के साथ विश्वास कर लेते हैं।"

"Other practices they have with regard to those idols which decency forbids me to explain." (page 73).

"इन मूर्त्तियों के सम्बन्ध में ऐसी ऐसी प्रथायें भी प्रचलित हैं जिनकी व्याख्या करना शिष्टता के विरुद्ध है।"

यह सब कथन राममोहनराय जी ने यह सिद्ध करने के लिये किया था कि मूर्त्ति-पूजा के पोषक जो इसमें गूढ़ प्रयोजन बताया करते हैं वह असत्य है। कोई कहता है कि मन को एकाग्र करने के लिये मूर्त्ति पूजा है। कोई कहता है कि साकार में निराकार का ध्यान करते हैं, कोई कहता है कि ईश्वर सर्व व्यापक है इस लिये मूर्त्ति में ईश्वर को देखते हैं। राममोहन जी सत्य कहते हैं कि यह सब बातें दूसरों को धोखा देने के लिये हैं, मूर्त्तिपूजा

का वास्तविक रूप वही है जो मूर्त्ति-पूजकों की चेष्टाओं से विदित होता है। मूर्त्ति-पूजा का वैज्ञानिक या दार्शनिक स्वरूप जो प्राय: व्याख्यानों या शास्त्रार्थों में निरूपित होता है मूर्त्ति पूजकों की चेष्टाओं से सर्वथा खण्डित हो जाता है।

राजा राममोहनराय जी मूर्त्ति-पूजा के कितने विरोधी थे यह बात नीचे के उद्धरण से स्पष्ट हो जायगी ?

"Idolatory, as now practised by our countrymen, and which the learned Brahman so zealously supports as conducive to morality, is not only rejected by the Shastras universally, but must also be looked upon with great horror by common sense, as leading directly to immorality and destructive of social comforts. For every Hindoo who devotes himself to this absurd worship, constructs for that purpose a couple of male and female idols, sometimes indecent in form, as representatives of his favourite deities; he is taught and enjoined from his infancy to contemplate and repeat the history of these, as well as of their fellow deities; though the

actions described to them be only a continued series of debauchery, sensuality, falsehood, ingratitude, breach of trust, and treachery to friends." (Monotheistical system of the Veds-centenary works p. 123.)

"जो मूर्त्ति-पूजा हमारे देश वासियों में आज कल प्रचलित है और जिसको विद्वान् ब्राह्मण सदाचार का साधक बतलाने में बड़ा उत्साह दिखाते हैं न केवल सभी शास्त्रों द्वारा निषिद्ध हैं किन्तु साधारण बुद्धि से भी बड़ी भयानक होती है क्योंकि इससे दुराचार बढ़ता और सामाजिक सुख की हानि होती है। क्योंकि जो हिन्दू मूर्त्ति-पूजा करता है वह इस काम के लिये एक स्त्री लिङ्ग और पुंलिङ्ग मूर्त्ति का जोड़ा इष्ट देवों के प्रतिनिधि स्वरूप तैयार करता है। इनकी आकृति कभी कभी तो बड़ी घृणित होती है। उसको बचपने से सिखाया जाता है कि इनका तथा इसी प्रकार के अन्य देवताओं का इतिहास स्मरण किया करे। यद्यपि जो काम उनसे सम्बद्ध किये जाते हैं वह उनके निरन्तर व्यभिचार, इन्द्रिय-विलास, झूठ, कृतघ्नता, विश्वास-विरोधी और मित्र-विद्रोह के ही सूचक हों।"

महादेव और पार्वती की मूर्त्तियों की भीषणता का यह एक याथातथ्य और भयानक चित्र है। मूर्त्ति-पूजा तथा पुराण-कथित गाथाओं से जिनके आधार पर मूर्त्ति-पूजा प्रचलित है सदाचार-शिक्षा की आशा करना रेत की नींव पर दीवार बनाना है।

एक ब्राह्मण ने राजा राममोहनराय के विरुद्ध मूर्ति-पूजा के पक्ष में कुछ लेख लिखे थे। राममोहनराय ने उनका बड़े जोरदार शब्दों में खण्डन किया था। उसके कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं:—

ब्राह्मण—

"As a mighty emperor travels through his kingdom in the garb of a peasant, to effect the welfare of his subjects, so the king of kings pervades the universe, assuming a divine, or even a human form, for the same benevolent purpose".

"जैसे एक शक्तिशाली सम्राट् अपने राज्य में किसान के भेष में फिरता है जिससे उसकी प्रजा का कल्याण हो, इसी प्रकार राजों का राजा जगत् में व्यापक है वह उसी उपकार के

लिये कभी देव का आकार धारण करता है और कभी मनुष्य का।"

इसका मुँह तोड़ उत्तर सन् १८१७ ई० में राजा राममोहन-राय ने यह दिया :—

"This comparison seems extremely objectionable and the inference from it totally inadmissible. For a king being ignorant of things out of the reach of his sight, and liable to be deceived respecting the secrets and private opinions of his subjects, may sometimes be obliged to travel through his kingdom to acquire knowledge of their condition, and to promote their welfare personally" (p. 129).

"यह तुलना अत्यन्त आक्षेपजनक और इससे जो परिणाम निकाला गया है वह सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। क्योंकि राजा अपनी आँख से ओट बातों को नहीं जानता और सम्भव है कि उसको अपनी प्रजा के निज मत तथा गुप्त बातों के विषय में धोखा हो जाय। इसलिये उसको उनकी अवस्था का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करने तथा उनके कल्याण का स्वयं सम्पादन करने के लिये अपने राज्य में भ्रमण करना पड़ता है।"

परन्तु ईश्वर तो सर्वज्ञ और सर्व व्यापक है। उसको इन कल्पनाओं की क्या आवश्यकता।

ब्राह्मण की दूसरी युक्ति सुनिये :—

"They are as pictures, which recall to the memory a dear and absent friend, or like the worship of the moon, reflected in various waters."

"मूर्त्तियाँ उन चित्रों के समान हैं जो किसी प्रिय और अनुपस्थित मित्र की याद दिलाते हैं या भिन्न भिन्न जलाशयों में पड़ती हुई चाँद की छाया द्वारा चाँद की पूजा के समान हैं।"

इसका उत्तर राममोहनराय इस प्रकार देते हैं :—

"This observation of the learned Brahmen induces me to suppose that he must have formed a notion of the God-head quite strange and contemptible ; for it is almost impossible for a man, who has a becoming idea of Gods' superiority to all creatures, to represent Him, as the Hindoos very often do, in a form so shameful that a description of it is prohibited by common decency." (p. 129).

"विद्वान् ब्राह्मण के कथन से प्रतीत होता है कि उन्होंने ईश्वर का बड़ा विचित्र और घृणित स्वरूप मान रक्खा है। क्योंकि जिस मनुष्य को अन्य प्राणियों की अपेक्षा ईश्वर की उच्चता का ठीक ठीक ज्ञान है वह कभी ईश्वर की ऐसी मूर्ति न बनावेगा जैसी हिन्दू बनाया करते हैं और जो कभी कभी ऐसी निर्लज्ज होती हैं कि उनका वर्णन करना शिष्टता के सर्वथा विरुद्ध है।"

ब्राह्मण प्रश्न करता है :—

"Is the sight of the image unpleasing ?"

"क्या मूर्त्ति दर्शन अप्रिय हैं ?"

राममोहनराय इसका दाँत-तोड़ उत्तर यह देते हैं :—

"A visit to Kalighat or Burhnugur which are only four miles distant from Calcutta will sufficiently convince the reader of the unpleasant nature of their beloved images." (p. 131).

"कालीघाट तथा बड़ा नगर जाइये जो कलकत्ता से केवल ४ मील की दूरी पर हैं और पाठक को पता चल जायगा कि इनकी प्यारी मूर्त्तियाँ कितनी भयावनी हैं।"

राममोहनराय को बड़ी शिकायत यह थी कि लोग वेद शास्त्र तो पुकारते हैं परन्तु चलते हैं उनके सर्वथा विपरीत। इसके उन्होंने कई उदाहरण दिये हैं :—

(1) "Modern Brahmuns, in direct opposition to their authority, allow her relations to bind the mournful and infatuated widow to the funeral pile with ropes and bamboos, as soon as she has expressed a wish to perform the dreadful sacrifice, to which the Brahmuns lend as well as by their followers ready assistance." (p. 133).

"जब कोई स्त्री विधवा हो जाती है तो ब्राह्मण लोग उसके दु:ख के समय पहले तो उससे कहलवा लेते हैं कि मैं सती हो जाऊँगी और ज्योंही उसके मुह से यह शब्द निकल पड़े लोग उसके सम्बन्धियों से कह कर उसको अपने पति की चिता से बाँध देते हैं। यह भयानक प्रथा शास्त्रों के सर्वथा विरुद्ध है।"

(2) "Yet the sale of female children under pretence of marriage is practised by nearly two

thirds of the Brahmuns of Bengal and Tirhoot generally." (p. 133).

"यद्यपि शास्त्र में लड़कियों के विवाह में कुछ लेना सर्वथा निषिद्ध है तथापि बङ्गाल और तिरहुत के दो तिहाई ब्राह्मण और उनके अनुयायी विवाह के बहाने से लड़कियों को बेचते हैं।"

(3) "Some of them marry thirty or forty women, either for the sake of money got with them at marriage or to gratify brutal inclinations." (p. 133).

"कोई कोई तीस या चालीस स्त्रियों को व्याह लेते हैं चाहे धन के लालच से चाहे अपनी पाशविक वृत्तियों को सन्तुष्ट करने के लिये।"

(4) "Honour is paid exclusively to certain families of Brahmuns such as the Koolins &c, however void of knowledge and principle they may be." (p. 133).

"यद्यपि शास्त्र में लिखा है कि केवल गुणी ब्राह्मण की ही पूजा करनी चाहिये तथापि यह लोग केवल कुछ ब्राह्मण वंशों

जैसे कुलीन आदि का ही आदर करते हैं चाहे वह कितने ही मूर्ख और अनाचारी क्यों न हों।"

इन सब बातों से पता चलता है कि राजा राममोहनराय जी न केवल मूर्ति-पूजा के ही विरुद्ध थे किन्तु समाज सुधार के भी बड़े पक्षपाती थे। उन्होंने बड़े भारी परिश्रम से सरकार से सती की प्रथा को बन्द कराया और जब सती के पक्षपातियों ने बहुत बड़ी अर्जी बृटिश पार्लमेण्ट को दी तो राजा राममोहन-राय ने इसके विरुद्ध अर्जी भिजवाई और जब वह इंग्लैण्ड गये तो उनको यह जानकर सन्तोष हुआ कि सुधार के विरोधियों की अर्जी रद्द कर दी गई और सती की भीषण और शास्त्र विरुद्ध प्रथा बहाल न हो सकी।

राजा राममोहनराय के लिये यह समझना सर्वथा अन्याय होगा कि वह ईसाई धर्म से प्रभावित थे। उन्होंने ईसाई धर्म का बड़ा विरोध किया था। इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

श्रीरामपुर में ईसाइयों ने एक मिशन प्रेस स्थापित किया था और "समाचार दर्पण" नामक एक पत्र निकलता था। उस पत्र के १४ जुलाई १८२१ ई० के अङ्क में किसी ने हिन्दू शास्त्रों पर कई आक्षेप किये थे। राममोहनराय को हिन्दू धर्म, हिन्दू

शास्त्र तथा हिन्दू जाति से प्रेम था। वे ऐसे आक्रमणों को सहन नहीं कर सकते थे। यद्यपि स्वयं उन्होंने हिन्दुओं की प्राचीन प्रथा मूर्त्ति पूजा का विरोध किया था और सती प्रथा के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी। परन्तु यह सब उन्होंने इसलिये किया था कि वह हिन्दू धर्म को बिगड़ी दशा में देखना पसन्द न करते थे। उनको हिन्दुओं की वर्तमान प्रथायें उनके शास्त्रों से विरुद्ध प्रतीत होती थीं। उनको वेद, उपनिषद् तथा वेदान्त दर्शन में मूर्त्ति पूजा का नाम तक नहीं मिला। उन्होंने मूर्त्तिपूजकों को भीषण कर्म करते देखा। इसलिये उन्होंने पण्डितों का विरोध किया। परन्तु वह यह सब अपने होकर कर रहे थे। हिन्दू धर्म उनका था। हिन्दू शास्त्र उनके थे। इसलिये उनका अधिकार था कि हिन्दुओं का ध्यान उनकी बुरी प्रथाओं की ओर आकर्षित करते। परन्तु ईसाई लोग ग़ैर थे। वह हिन्दुओं की कुप्रथाओं का खण्डन इसलिये नहीं करते थे कि उनको हिन्दू संस्कृति से प्रेम था। अतः राममोहनराय जी के लिये यह स्वाभाविक था कि वह बुरा मानते और हिन्दू शास्त्रों की रक्षा के लिये हाथ पैर मारते। उन्होंने ब्राह्मनीकल मैगजीन (Brahmanical magazine) में न केवल हिन्दू शास्त्रों पर किये हुये

आक्षेपों का उत्तर ही दिया किन्तु ईसाई सिद्धान्तों का खण्डन भी किया।

उन्होंने भूमिका में लिखा है कि ईसाई लोग कुछ दिनों से हिन्दू और मुसलमानों को ईसाई बनाने की धुन में लगे हुए हैं। इसके लिये वह तीन साधनों का अवलम्बन करते हैं। पहला यह कि दोनों धर्मों के विरुद्ध पुस्तकें लिखते हैं और हिन्दू देवी देवताओं तथा सन्तों का उपहास करते हैं। दूसरे यह कि हिन्दुस्तानियों के घरों के सामने या सड़कों पर खड़े हो जाते हैं और अपने धर्म की उच्चता और दूसरों के धर्म की निकृष्टता पर व्याख्यान देते हैं। तीसरे यदि कोई नीच जाति का हिन्दू धन के लालच से या अन्य कारण से ईसाई हो जाता है तो उसको नौकर रख कर उसका पालन पोषण करते हैं जिससे दूसरों को भी साहस हो सके।

इतना लिखकर उन्होंने कहा है कि यदि अंगरेज लोग टर्की, ईरान आदि में जो उनके देश से अपेक्षतः निकट भी हैं और जहाँ उनका राज्य नहीं है ईसाई धर्म का प्रचार करते तो उनका जोश आदरणीय समझा जा सकता था, परन्तु—

"In Bengal, where the English are the sole rulers, and where the mere name of Englishman

is sufficient to frighten people, an encroachment upon the rights of her poor timid and humble inhabitants and upon their religion, can not be viewed in the eyes of God or the public as a justifiable act." (p. 160).

"बंगाल में जहाँ अंगरेजों का सर्वाधिपत्य है और जहाँ अंगरेज का नाम ही मनुष्यों को डराने के लिये पर्य्याप्त है बिचारे दरिद्र, डरपोक और विनम्र निवासियों के अधिकारों तथा उनके धर्म पर आक्रमण करना ईश्वर या जनता की दृष्टि में न्याय युक्त कार्य्य नहीं कहा जा सकता।"

उनके हृदय की वेदना नीचे के उद्धरण से स्पष्ट होगी :—

"We have been subjected to such insults for about nine centuries, and the cause of such degradation has been our excess in civilization and abstinence from the slaughter even of animals; as well as our division into castes, which has been the source of want of unity among us." (p. 160)

"लगभग नौ सौ वर्ष से हमारा अपमान किया जा रहा है और इस अधोपतन का यही कारण है कि हममें सभ्यता

आवश्यकता से अधिक है और हम जानवर तक को मारने से परहेज करते हैं और हम जातियों में बँटे हुये हैं जिसके कारण हममें ऐक्य नहीं होने पाता।"

"It seems almost natural that when one nation succeeds in conquering another, the former, though their religion may be quite ridiculous laugh at and despise the religion and manners of those that are fallen into their power. For example, Mussalmans, upon their conquest of India, proved highly inimical to the religious exercises of Hindoos. When the generals of Chungezkhan, who denied God and were like wild beasts in their manners, invaded the western part of Hindoostan, they universally mocked at the profession of God and of futurity expressed to them by the natives of India." (p. 160)

"यह प्रायः स्वाभाविक सा प्रतीत होता है कि जब एक जाति दूसरी जाति को जीतने में सफल हो जाती है तो जीतने वाली जाति का धर्म चाहे सर्वथा हास्यप्रद ही क्यों न हो तो भी यह उस जाति के धर्म और रीति रिवाज को घृणा की दृष्टि

से देखते हैं जो इनके आधीन हो चुकी है। उदाहरण के लिये मुसलमान लोग भारत की विजय के उपरान्त हिन्दुओं की धार्मिक रीतियों के घोर शत्रु सिद्ध हुये। जब चंगेज़ खाँ के आदमियों ने जो ईश्वर को नहीं मानते थे और जिनके रीति रिवाज जंगली पशुओं के समान थे, पश्चिमी भारत पर आक्रमण किया तो जब हिन्दुओं ने उनको ईश्वर और पुनर्जन्म के विषय में बताया तो उन्होंने इनका बड़ा मख़ौल उड़ाया।"

कैसे मर्मवेधी शब्द हैं! इसके पश्चात् उन्होंने अंगरेज़ों को परामर्श दिया है कि वह ईसाई धर्म फैलाने का यत्न न करें।

"For truth and true religion do not always belong to wealth and power, high names or lofty palaces."

"क्योंकि सत्यता और सत्य धर्म सदा धन, शक्ति, बड़े नामों और ऊँचे प्रासादों से ही सम्बन्ध नहीं रखते।"

राममोहनराय जी ने ब्राह्मनीकल मैगज़ीन के पहले अंकों में वेद और शास्त्रों पर किये हुये आक्षेपों का उत्तर दिया। दूसरे अङ्क में सिद्ध किया कि पुराणों तथा तंत्रों आदि के कथन ईसाई धर्म की अपेक्षा अधिक युक्ति-युक्त हैं। इसका उत्तर

ईसाइयों की ओर से फ्रेण्ड आफ् इण्डिया नं० ३८ (Friend of India No.38) नामी पुस्तक में दिया गया। इसका प्रत्युत्तर राममोहनराय जी ने ब्राह्मनीकल मैगज़ीन के तीसरे अङ्क में दिया। इसका यह परिणाम हुआ कि ईसाई लोग ठण्डे हो गये और दो वर्ष की प्रतीक्षा के उपरान्त राममोहनराय ने इन सब को ईसाइयों के आक्षेपों सहित पुस्तक रूप में छपवा दिया जिससे न्यायशील पुरुष दोनों पक्षों को विचार सकें। इसकी भूमिका में वह लिखते हैं कि मनुष्य चाहे बड़ा हो चाहे छोटा।

"If while he declares that God is not man, he again professes to believe in a God-Man or Man-God, under whatever sophistry the idea may be sheltered—can such a person have a just claim to enjoy respect in the intellectul world ? and does he not expose himself to censure, should he, at the same time ascribe unreason—ableness to others." (p. 164).

"यदि वह कहता है कि ईश्वर मनुष्य नहीं है और फिर भी साथ ही साथ ईश्वरीय-मनुष्य या मानुषीय-ईश्वर पर

विश्वास रखता है चाहे कैसे ही हेत्वाभास में उसको क्यों न छिपाया जाय, क्या बुद्धिमान् पुरुष उसका आदर करेंगे? और अगर साथ ही साथ वह दूसरों का युक्ति-शून्य बतलाये तो क्या वह ताड़ना के योग्य न होगा?"

तात्पर्य यह है कि इधर तो ईसाई लोग हिन्दू अवतारों का खण्डन करते हैं उधर स्वयं ईसा को मनुष्य के रूप में ईश्वर मानते हैं। यह दोनों बातें युक्ति-संगत कैसे हो सकती हैं?

यहाँ हम ईसाइयों के प्रश्नों तथा राममोहनराय के उत्तरों को अत्यन्त संक्षेप से देते हैं। भाव दिया जाता है। विस्तार को कम करने के हेतु शब्द छोड़ दिये हैं।

ईसाई—वेदान्त में ईश्वर को एक नित्य, कालातीत, निराकार, अगोचर, इच्छा-रहित, चेतन, निर्विकार, और हर प्रकार से पूर्ण माना गया है। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं और उससे इतर कोई और संज्ञा नहीं। यह दृष्टिगोचर संसार माया से बनता है। माया ईश्वर के तत्वज्ञान का उलटा है। संसार और अन्तःकरण दोनों मिथ्या हैं। वे सच्चे इसलिये मालूम होते हैं कि ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं। इस सिद्धान्त को मानने से ब्रह्म को दोष लगता है या ब्रह्म और

माया दोनों की उत्कृष्टता (अर्थात् स्वतन्त्रता) और नित्यता पाई जाती है।

राममोहनराय—आपने केवल यही कहा कि ब्रह्म को दोष लगता है, यह नहीं बताया है कि क्या दोष लगता है, फिर कोई उत्तर कैसे दे। दूसरे आक्षेप के विषय में यह बात है कि जिस प्रकार ईसाई और मुसलमान दोनों ईश्वर को नित्य मानने के साथ साथ उसके गुणों को भी नित्य मानते हैं इसी प्रकार वेदान्त भी मानता है। नित्य ब्रह्म की उत्पादक शक्ति का नाम माया है। इसलिये वेदान्त ने इसे नित्य बताया। माया की सत्ता अलग नहीं। यह ईश्वर की शक्ति है और अपने कार्य से जानी जाती है। जैसे गर्मी अग्नि की शक्ति है। उससे अलग नहीं। और कार्यों से जानी जाती है। (निःसत्तकार्य गम्यस्य शक्तिर्मायाऽग्नि शक्तिवत्)। वेदान्त में तथा अन्य शास्त्रों में भी द्रव्य गुणों की अपेक्षा उत्कृष्ट माने गये हैं वेदान्त में ईश्वर और माया दोनों की उत्कृष्टता (अर्थात् स्वतन्त्रता) नहीं बताई गई।

ईसाई—जीव ब्रह्म में भेद नहीं तो जीव को पाप का फल क्यों मिलता है ?

राममोहनराय—वेदान्त के अनुसार संसार माया का कार्य्य होने से अचेतन है। परन्तु ब्रह्म शुद्ध चेतन है! जैसे

सूर्य्य की भिन्न भिन्न बरतनों में रक्खे हुये जलों पर छाया पड़ती है इसी प्रकार भिन्न भिन्न जड़ पदार्थों पर ब्रह्म का आभास ही जीव है। जैसे आभासों के हिलने से सूर्य्य नहीं हिलता, इसी प्रकार जीव जड़ पदार्थों के प्रभाव के प्रभावित होते हैं ब्रह्म नहीं। जैसे जलों के गदले वा स्वच्छ होने से आभास भी धुंधले या स्वच्छ होते हैं इसी प्रकार जड़ पदार्थों की अपेक्षा से कुछ जीव अधिक शुद्ध होते हैं कुछ अधिक अशुद्ध। ईसाइयों की पुस्तकों में भी ईश्वर को सब कुछ और सर्वव्यापक माना गया है इसका यह अर्थ नहीं कि घड़ा या चटाई आदि सब ब्रह्म हैं।

ईसाई—न्यायशास्त्र के अनुकूल ईश्वर एक है और जीव नाना है। वे दोनों नित्य हैं। दिशा, आकाश, काल और परमाणु भी नित्य हैं। ईश्वर समवाय सम्बन्ध द्वारा सृष्टि बनाता है। वही सृष्टि-कर्त्ता है। न्याय यह भी कहता है कि ईश्वर जीवों को उनके कर्मों का फल देता है। उसकी इच्छा (will) अटल है। इस सिद्धान्त से ईश्वर सृष्टि का उत्पादक नहीं ठहरता क्योंकि वह सृष्टि को उपादान की सहायता से बनाता है। वस्तुत: ईश्वर को किसी सहायता की आवश्यकता नहीं। जब ईश्वर की इच्छा अटल है, तो हम कैसे मान लें कि वह भिन्न भिन्न समयों में सब को बनाता, पालता और

संहार करता है। या भिन्न भिन्न कालों में जीवों के कर्मों का फल देता है। इस सिद्धान्त से तो ईश्वर की एकता सिद्ध नहीं होती। इससे तो ईश्वर और जीव दोनों ही ईश्वर हो जाते हैं एक बड़ा, दूसरा छोटा।

राममोहनराय—सभी आस्तिक चाहे नैयायिक हों चाहे ईसाई ईश्वर को अमर और जीव को अन्तरहित मानते हैं। जीव अनन्त काल तक या तो ईश्वर के ज्ञान के फल स्वरूप मोक्ष भोगता है या अपने कर्मों का फल। दोनों मानते हैं कि ईश्वर जीवों को पुण्य पाप का फल देता है और ईश्वर की इच्छा अटल है। यह बात तो न्याय और ईसाई धर्म दोनों पर बराबर लागू होती है। भिन्न भिन्न वस्तुओं का भिन्न भिन्न कालों में उत्पन्न होना ईश्वर की अटल इच्छा का बाधक नहीं क्योंकि वह कालातीत है। केवल अन्य पदार्थ ही ईश्वर की अटल इच्छा से भिन्न भिन्न कालों में प्रभावित होते हैं। द्रव्य और गुण या कर्त्ता और कार्य्य के सम्बन्ध को समवाय-सम्बन्ध कहते हैं। इसको सभी आस्तिक मानते हैं कि संस्कार की उत्पादक शिक्षा ईश्वर में रहती है। किसी को कर्त्ता कैसे कह सकते हैं जब तक उसमें क्रिया न पाई जाय।

तुम देश काल से अलग किसी वस्तु का ध्यान भी नहीं कर सकते चाहे ईश्वर हो या ईश्वरेतर कोई वस्तु। यदि तुम देश काल का भान छोड़ दो तो किसी वस्तु की सिद्धि न कर सकोगे। न्याय और ईसाई धर्म दोनों मानते हैं कि ईश्वर नित्य है। अर्थात् सब कालों में है। नित्यता का अर्थ ही यह है कि जिसका आदि और अन्त न हो। ईश्वर की नित्यता का भाव ही काल के भाव के आश्रित है। अब रहे परमाणु। संसार का उपादन कारण सूक्ष्म परमाणु है जिसका नाश असम्भव है। चेतन ईश्वर जड़ जगत् का उपादान नहीं हो सकता और न अभाव से ही जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिये परमाणु भी नित्य ही होने चाहिये। जो कुछ इच्छा से उत्पन्न होता है उसको उपादान होता है। जगत् ईश्वर की इच्छा से उत्पन्न होते हैं अतः इसका भी उपादान चाहिये। ईश्वर और जीव दोनों ईश्वर नहीं हो सकते क्योंकि जीव अपने सब कर्मों के लिये ईश्वर की इच्छा के आश्रित है। केवल थोड़े से साधर्म्य से ही कोई वस्तु ईश्वर नहीं हो सकती। उदाहरण के लिये ईसाई और हिन्दू दोनों ही इच्छा और दया ईश्वर और जीव दोनों में मानते हैं। परन्तु क्या इससे यह मान लेना चाहिये कि दोनों ईश्वर हो गये।

इसी प्रकार मीमांसा, योग और सांख्य के आक्षेपों का उत्तर देते हुए राममोहनराय कहते हैं कि सब शास्त्र छोटी छोटी बातों में मत भेद रखते हुये भी ईश्वर को निराकार, अकाय, अनादि और अनन्त मानते हैं।

ईसाई—तंत्रों और पुराणों में ईश्वर का अवतार आदि बताया है। इत्यादि।

राममोहनराय—सभी पुराण ईश्वर को निराकार और अगोचर मानते हैं परन्तु उन निर्बुद्धियों के लिये जो या तो सर्वथा ही धर्म विरुद्ध हो जाँय या पाप करने लगें ईश्वर का अवतार आदि बता दिया है। जब उनको बुद्धि हो जायगी तो शुद्ध ईश्वर को मानने लगेंगे। परन्तु पुराणों में स्पष्ट कह दिया है कि यह निर्बुद्धि पुरुषों के लिये है। हाँ, एक बात याद रखनी चाहिये। तंत्र और पुराण बहुत से हैं। सभी को प्रमाण माना नहीं जा सकता। मनु कहते हैं कि वेद विरुद्ध स्मृतियाँ तथा नास्तिक ग्रन्थ कल्याणकारी नहीं हैं यह अन्धकार युक्त हैं। इसलिये वेद विरुद्ध बातों को मानना नहीं चाहिये। पुराणों की उतनी ही बातें माननीय हैं जितनी वेदानुकूल हैं। तुम लोग अवतारों पर आक्षेप करते हो कि ईश्वर मनुष्य का रूप कैसे धारण कर सकता है। परन्तु क्या तुम ईसा को जो

मनुष्य के रूप में है और पवित्र आत्मा को जो पक्षी के रूप में है ईश्वर नहीं मानते ? क्या तुम नहीं मानते कि ईसूमसीह जो खुदा ही था बाह्यइन्द्रियों नाक, कान आदि से ज्ञान लेता और कर्म इन्द्रियों से काम करता था ? क्या उसमें मानवी भाव न था ? क्या वह क्रुद्ध नहीं होता था ? उसके मन को चिन्ता होती थी या नहीं ? क्या उसको दुखों का अनुभव होता था ? क्या वह खाता पीता न था ? क्या वह माता, भाइयों और सम्बन्धियों के साथ बहुत दिनों तक नहीं रहा ? क्या वह जन्मा नहीं ? क्या उसकी मृत्यु नहीं हुई ? और क्या पवित्रात्मा जो ईश्वर ही है पक्षी के रूप में इधर से उधर नहीं गया ? और क्या उस पवित्र आत्मा ने स्त्री के प्रसंग से ईसू को नहीं उत्पन्न किया ? यदि ईसाई लोग इन सब बातों को मानते हैं तो वे पुराणों की बातों पर कैसे आक्षेप कर सकते हैं। यदि कहो कि ईश्वर सृष्टि क्रम के विरुद्ध भी कर सकता है तो इससे ईसाई और हिन्दू दोनों ही अपनी अनर्गल बातों को सिद्ध करेंगे ? व्यासजी ने महाभारत में ठीक कहा है कि लोग दूसरों का राई भर दोष देखते हैं और अपना बेल के बराबर दोष नहीं देखते। पुराणों में यह तो लिखा है कि यह सब बातें अज्ञानियों को समझाने के लिये लिखी गई हैं और कल्पनामात्र हैं। ईसाई

लोग तो अपनी सभी बातों को सच मानते हैं। दूसरी बात यह है कि पुराणों में जो वेद विरुद्ध है वह माननीय नहीं। परन्तु ईसाइयों का तो बाइबिल ही वेद है। इसलिये सब से अधिक दोषी ईसाई ही ठहरे।

ईसाई—हिन्दू शास्त्रों के अनुसार जीवों को अपने कर्मों के अनुसार स्थावर और जंगम योनियों में आना पड़ता है। एक सम्प्रदाय मृत्यु के पश्चात् कुछ भी नहीं मानता। कौन सा ठीक है?

राममोहनराय—किसी हिन्दूशास्त्र में नहीं लिखा कि मृत्यु के पश्चात् कुछ नहीं होता। यह केवल नास्तिकों का मत है। शास्त्र तो कहता है कि इसी संसार में पुण्य और पाप का फल मिलता है। या ईश्वर पाप और पुण्य के कारण मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग और नर्क देता है। या पुण्य और पाप के कारण भिन्न भिन्न योनियां मिलती हैं। इसमें ईसाई और हिन्दुओं में भेद ही क्या है? ईसाइयों के अनुसार भी तो भिन्न भिन्न फल मिलता है। इस संसार में भी जैसे कि यहूदियों को मिला। बाइबिल में लिखा है कि ईश्वर ने इस जन्म में ही पुण्य और पाप का अच्छा और बुरा फल दिया। ईसा ने स्वयं कहा है कि खुल्लम खुल्ला दान करने से इसी जन्म में फल मिलेगा। बाइबिल

में यह भी लिखा है कि जिन्हों को पुण्य के बदले सुख और पाप के बदले दुख मृत्यु के उपरान्त मिला। सब ईसाई मानते हैं कि इस शरीर के नाश होने पर ईश्वर कयामत के दिन जीव को शरीर देगा और इस शरीर युक्त जीव से पुण्य और पाप का फल भुगवावेगा! यदि सृष्टि-नियम के विरुद्ध वह यह मान सकते हैं कि क़यामत के दिन जीव को शरीर मिलेगा तो सृष्टि के नियम के अनुकूल वह इसी जगत् में शरीर मिलने पर क्यों आश्चर्य करते हैं ?

इसके उपरान्त राममोहनराय ने ईसाइयों से प्रश्न किये हैं। वह यह हैं :—

(१) तुम ईसा को ईश्वर का बेटा भी मानते हो और ईश्वर भी। बेटा बाप कैसे हो सकता है ?

(२) वे कभी कभी कहते हैं कि ईसा मनुष्य का बेटा था फिर भी कहते हैं कि कोई मनुष्य उसका बाप नहीं था।

(३) वे कहते हैं कि ईश्वर एक है फिर भी कहते हैं कि बाप ईश्वर है, बेटा ईश्वर है और पवित्र आत्मा ईश्वर है।

(४) वे कहते हैं कि ईश्वर की आत्मा की पूजा करनी चाहिये फिर वह ईसा-मसीह की, ईश्वर के रूप में पूजा करते हैं। यद्यपि वह शरीरधारी है।

(५) यह कहते हैं कि बेटे की वही संज्ञा होती है जो बाप की। वे यह भी कहते हैं बेटा बाप के बराबर है। बराबरी तो उन्हीं चीजों में कही जा सकती है जिसकी संज्ञा भिन्न भिन्न हो।

यह उत्तर 'शिवप्रसाद शर्मा' के नाम से दिये गये थे। परन्तु वस्तुतः इनके निर्माता राममोहनराय स्वयं थे। राम मोहनराय की यह आदत थी कि अपने लेखों को दूसरों के नाम से छाप देते थे। इन प्रश्नोत्तरों से राममोहनराय जी के विचारों का अच्छा पता चलता है।

ईसाइयों ने इसका उत्तर दी फ्रेण्डआफ इण्डिया नं० ३८ में दिया। इसको प्रत्युत्तर सहित संक्षेप में देते हैं :—

"ईसाई का उत्तर—बाइबिल कहीं नहीं कहती कि बेटा बाप है। बाइबिल यही कहती है कि बेटा प्रकृति और संज्ञा (nature and essence) में बाप के बराबर है। जिस बेटे में बाप के गुण न हों वह अद्भुत जन्तु (monster) होगा।

राममोहनराय का प्रत्युतर—यदि हम ऐसा मान लें तो बाप और बेटा समकालीन क्योंकर होंगे ? यदि जिस प्रकार जेम्स बाप का जौन बेटा भी मनुष्य ही होता है उसी प्रकार ईसा

को ईश्वर का बेटा होने से ईश्वर कहा जाए तो प्रश्न यह होगा कि ईश्वर व्यक्तिवाचक संज्ञा है या जाति वाचक। 'मनुष्य' तो जाति वाचक संज्ञा है इसलिये मनुष्य का बेटा मनुष्य ही होता है। क्या इसी प्रकार ईश्वर भी जाति वाचक संज्ञा है, जिससे बाप ईश्वर, बेटा ईश्वर और पवित्र-आत्मा ईश्वर तीन ईश्वर हो गये। जेम्स बाप का जौन बेटा बाप से अवश्य छोटा होगा। परन्तु बाप ईश्वर और बेटा ईश्वर समकालीन (co-eval) बताये जाते हैं। यदि कहो कि 'मनुष्य' शब्द सैकड़ों व्यक्तियों का वाचक होने से जाति वाचक है और ईश्वर केवल तीन संज्ञाओं के लिये ही आता है तो इससे क्या? जाति वाचक संज्ञा के लिये संख्या तो निश्चित है नहीं। मनुष्य संख्या में कृमियों से बहुत कम हैं फिर भी मनुष्य और कृमि दोनों जाति वाचक संज्ञा हैं। क्या यही एक ईश्वर-वाद है जिसके आधार पर पुराणों के बहु-ईश्वर-वाद का खण्डन किया जाता है?

ईसाई का उत्तर—बाइबिल कहती है कि बाप, बेटा और पवित्र आत्मा तीनों की दिव्य प्रकृति (divine nature) और पूर्णता (perfections) हैं। परन्तु बाइबिल यह भी कहती है कि इन तीनों का व्यक्तित्व अलग है। यह केवल प्रकृति और गुणों में ही एक हैं। शास्त्र के अनुसार बाप, बेटा और

पवित्र आत्मा तीनों ही ईश्वर करके पूजनीय हैं। तीनों ही से शान्ति, पाप से मुक्ति और कल्याण मिल सकता है। बाइबिल हमको यह नहीं बताती है कि यह तीनों एक जैसे हैं? यदि बताती भी तो हमारी समझ में न आता। बहुत सी चीजें हैं जो मनुष्य की बुद्धि से परे हैं। वृक्ष भूमि से खाद कैसे लेते हैं यह बात हम नहीं समझ सकते। इसी प्रकार बाप बेटा और ईश्वर का त्रित्व भी अज्ञेय है।

राममोहनराय का प्रत्युत्तर—क्या इसी विरते पर वेदान्त पर आक्षेप किया था? यह तो एक प्रकार से अपने सिद्धान्तों की त्रुटि को मान लेना है। वृक्ष आदि के खाद लेने की बात तो हिन्दू और ईसाई सभी के लिये अज्ञेय है। परन्तु वृक्षों के बढ़ने से हमको मान लेना पड़ता है कि वह खाद खींचते हैं। या तो एक चीज प्रत्यक्ष हो या उसका कार्य्य प्रत्यक्ष हो। क्या ईश्वर का त्रित्व भी इसी प्रकार का है। क्या ईसाइयों को प्रत्यक्ष होता है या ईसाइयों ने उनसे सुना है जिनको यह यह प्रत्यक्ष हुआ हो। यदि ईसाई पुरानी शिक्षा के कारण ऐसा मानते हैं तो हिन्दू भी पुरानी शिक्षा के कारण अवतार मानते हैं। मैं तो यही समझता हूँ कि बुद्धिमान ईसाई इन दोषों को समझते हैं परन्तु कई यूनानी और रोमन दार्शनिकों के

समान जनता के विश्वास को मानते चले जाते हैं। ब्राह्मणों पर दोष लगाया जाता है कि वे अपने शिष्यों को अन्धकार में रखते हैं परन्तु ईसाई प्रचारक भी तो यही करते हैं।

यहाँ पर राममोहनराय ने ईसाइयों के उत्तर में से भिन्न भिन्न उद्धरण किये हैं।

(1) "The Bible forbears to inform us how the Father, the Son and the Holy Spirit exist"

"बाइबिल हमको यह नहीं बताती कि बाप, बेटा और पवित्रतात्मा किस प्रकार स्थित हैं।"

(2) "The triune God has not descended to inform us of the precise mode in which his infinite and glorious nature exists and acts."

"ईश्वर-त्रयी ने नीचे उतर कर हमको वह विशेष प्रकार नहीं बताया है जिसके द्वारा उसकी अनन्ता और महिमा, प्रकृति स्थित है तथा काम करती है।"

(3) The Son who has existed with theF ather from eternity has created heaven and earth.

"बेटे ने जो अनादि काल से बाप के साथ विद्यमान था स्वर्ग और भूमि को उत्पन्न किया।"

(4) From his infinite pity to sinful men, he condescended to lay aside his glory for a season.

"पापियों पर अपार दया करके उसने कुछ समय के लिये अपनी महिमा को अलग रखने की कृपा की।"

(5) "Taking on himself the form of a Servant he might worship and obey the father as his God."

"सेवक का रूप धारण करके वह अपने बाप को ईश्वर मान कर उसकी पूजा कर सका और उसकी आज्ञा का पालन कर सका।"

(6) "He prayed his father to glorify him only with his own glory which he had with his father before the foundation of the world and which for a season he had laid aside."

"उसने अपने बाप से प्रार्थना की कि आप मुझको मेरी ही महिमा से विभूषित कीजिये जो मुझमें आपके साथ जगत् की नींव डालने से पहले विद्यमान थी और जिसे मैंने कुछ समय के लिये अलग रख दिया था।"

(7) "He was permitted to ascend up where he was before."

"उसको उस स्थान तक चढ़ने की आज्ञा मिल गई जहां वह पहले था।"

(8) "He was seated at the right hand of the Majesty on high"

"वह आसमान पर प्रभु के दाहिने हाथ पर बिठाया गया।"

(9) "Who gave him as mediator all power in heaven and earth."

"और प्रभु ने उसको स्वर्ग में और पृथ्वी पर शफ़ीअ (बिचौलिये) के रूप में सब अधिकार दे दिये।"

(10) "God the spirit was also pleased to testify to men his approbation of the son's becoming incarnate by visibly descending upon him in the form of a dove."

"पवित्रात्मा ईश्वर ने भी प्रसन्नता पूर्वक फ़ाख़ता पक्षी के रूप में सब के देखते हुये उस (बेटे) के ऊपर उतर कर मनुष्यों के प्रति बेटे के शरीर धारण करने पर सन्तोष का प्रकाश किया।"

इतने उद्धरणों को देकर राममोहनराय जी कहते हैं कि इतने स्थान-भेद, क्रिया भेद, और व्यक्तित्व-भेदों के होते हुये कैसे सम्भव है कि तीनों एक हैं। तीनों की एकता कैसे मानी जाय जब एक

पृथ्वी पर धार्मिक कृत्य कर रहा हो तब दूसरा स्वर्ग में उसके काम के ऊपर प्रसन्नता प्रकट कर रहा हो और तीसरा दूसरे की इच्छानुसार पहले पर उतर रहा हो। यदि शरीरों की भिन्नता स्थानों की भिन्नता और कार्यों की भिन्नता भी व्यक्तियों को भिन्न भिन्न सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है तो एक आदमी और दूसरे आदमी में पहचान ही कैसे हो सकेगी और वृक्ष का पत्थर से या चिड़िया का मनुष्य से कैसे भेद जान सकेंगे? जिसके कुछ भी बुद्धि है वह ऐसा कदापि नहीं मान सकता। ईसाई कहता है कि ईश्वर-बेटे ने अपनी महिमा को थोड़ी देर के लिये अलग रख दिया। क्या इस एक अखण्ड ईश्वर के लिये सम्भव है कि वह अपनी प्रकृति के किसी अंश को अलग रख दे और फिर उसके लिये प्रार्थी हो? क्या इस संसार के रचयिता ईश्वर के गुण के अनुकूल है कि वह कुछ समय के लिये भी सेवक रूप धारण कर सके? क्या ईश्वर का यही भाव है जो ईसाई मानता है? जो मूर्त्ति पूजक हिन्दू अपने बहु-ईश्वर-वाद के लिये युक्तियाँ देते हैं वे इन युक्तियों से कहीं अधिक सारगर्भित होती हैं। जब ईसाई मानता है कि पवित्र आत्मा फाख्ता चिड़िया के रूप में उतरी और कहता है कि "when God renders himself visible to man, it

must be by appearing in some form." "जब ईश्वर अपने को मनुष्य के प्रति प्रकट करना चाहता है तो कोई न कोई रूप तो धारण ही करेगा" तो आश्चर्य है कि वह पौराणिकों के गाय या मछली के अवतारों पर आक्षेप करे क्योंकि जैसी फाख्ता सीधी सीधी, वैसी ही मछली या गाय।

राममोहनराय का आक्षेप—

"They say that God must be worshipped in spirit and yet they worship Jesus Christ as very God, although he is possessed of a material body."

अर्थात् ईसाई लोग कहते हैं कि ईश्वर को आत्मा करके पूजना चाहिये फिर भी वे ईसू मसीह को ईश्वर के स्थान में पूजते हैं यद्यपि ईसू मसीह शरीर धारी है।

ईसाई का उत्तर :—"Christians worship Jesus Christ and not his body separately from him." ईसाई लोग ईसू मसीह को पूजते हैं, उससे अलग उसके शरीर को नहीं।

राय जी का प्रत्युत्तर—यदि हम मान लें कि शरीर-धारी आत्मा की पूजा आत्मा की ही पूजा है जड़ पदार्थ की

नहीं, तो किसी सम्प्रदाय को मूर्तिपूजक होने का दोष न लग सकेगा। क्या यूनानी और रोमन लोग ज्यूपिटर और जूनो आदि देवी देवताओं के शरीरों को उनके आत्मा से अलग मान कर पूजा करते थे? क्या हिन्दू लोग अवतारों की मूर्तियों को आत्मा मान कर नहीं पूजते? वह भी तो प्राण प्रतिष्ठा करके ही मूर्त्तियों को पूजते हैं। लोग अंगरेजों की बुद्धि और नीति को देखकर समझ लेते हैं कि इनके धार्मिक विचार भी उच्च होंगे। परन्तु ऐसा नहीं।

ईसाई ने लिख दिया था कि हिन्दू लोग आचार-सम्बन्धी मृत्यु (moral death) की ओर जा रहे हैं। श्रीराममोहनराय जी के जाति-प्रेम के लिये यह बात असह्य थी। उन्होंने लिखा है कि प्रसंग से बाहर होने के कारण हम यूरोप और हिन्दुस्तान वासियों के पारिवारिक चरित्रों की तुलना नहीं करते अन्यथा संसार को ज्ञात हो जाता कि सब से अधिक त्रुटियाँ किसमें हैं।

दो वर्ष तक इसका उत्तर न मिला। दो वर्ष पीछे १८२३ ई० में ईसाइयों ने एक ट्रैक्ट लिखा जिसमें वेदों पर नास्तिकता का लांछन लगाया गया। राजा राममोहनराय ने तुरन्त ही उसका उत्तर दिया। और ईसाइयों के त्रित्ववाद पर बड़े प्रबल आक्षेप किये। उन्होंने कहा कि न तो बाइबिल

के पढ़ने से त्रित्व की बात समझ में आती है न ईसाई विद्वान् ही कुछ समझे प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार हिन्दू बचपन से काली माई की महिमा सुनते सुनते काली के उपासक बन जाते हैं इसी प्रकार ईसाई लोग भी पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा की रहस्यमय एकता को सुनते सुनते उसके उपासक हो जाते हैं। अन्ध विश्वास ही दोनों का आधार है। यहाँ इङ्गलैण्ड के चर्च (The Church of England) के कुछ पादरियों के मत दिये हैं :—

(१) डाक्टर वाटरलैण्ड (Water Land) डा० टेलर (Taylor) और लाट पादर सेकर (Archbishop Secker) मानते हैं कि तीन भिन्न भिन्न स्वतंत्र और समान पुरुषों का एक ही ईश्वर मानना ईसाई त्रैत है। इस प्रकार बाप, बेटा और पवित्र-आत्मा एक ईश्वरत्व के अन्तर्गत तीन अलग अलग द्रव्य हैं। (The Trinity consists of three distinct, independant. and equal persons consisting one and the same God)

(२) डाक्टर वालिस (Wallis) और शायद लाट-पादरी टिलौटसन (Tillotson) मानते हैं कि त्रैत के पुरुष केवल तीन प्रकार या सम्बन्ध हैं जो ईश्वर के प्राणियों के साथ

हैं। अर्थात् पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा तीन गुण हैं जो ईश्वरत्व के भाव के अन्तर्गत हैं।

(३) पादरी पियर्सन (Bishop Pearson) पादरी बुल (Bull) और डा० ओविन (Owen) मानते हैं कि पिता एक अनुत्पन्न और मुख्य सत्ता (an Underived and essential Essence) है और पुत्र में यह सब बातें पिता-ईश्वर के संपर्क से आती हैं। विशप पियर्सन का कथन है :—

"There can but one person originally of himself, subsisting in that infinite being, because a plurality of more persons so subsisting would necessarily infer a multiplicity of Gods."

"आदि में केवल एक ही पुरुष हो सकता है जो अनन्त सत्ता हो क्योंकि एक से अधिक मानने से बहु-ईश्वरवाद आ जायगा।"

"The son possessed the whole nature by *communication* not by *participation* and *in such way* that he was as really God as the Father."

"और पुत्र ने सम्पर्क से, न कि बटवारे से और इस प्रकार इस पूर्ण स्वभाव को धारण कर लिया कि वह पिता के समान ही ईश्वर हो गया।"

(४) बिशप बर्जेस (Burgess) कहता है कि :—

"The Scriptures declare that there is but only one—God. The same scriptures declare that there are three omnipresent persons; but three cannot be two omnipresent beings ; therefore the three omnipresent persons can be only one God."

"बाइबिल में लिखा है कि ईश्वर एक ही है। बाइबिल में यह भी लिखा है कि तीन सर्व-व्यापक पुरुष हैं लेकिन दो सर्व व्यापकों का होना भी असम्भव है। अतः तीन सर्वव्यापक पुरुष एक ही ईश्वर हो सकते हैं।"

(५) डाक्टर टामस बर्नेट (Dr. Thomas Burnet) के अनुसार पिता स्वतंत्र सत्ता है और पुत्र और पवित्र-आत्मा आश्रिता।

(६) मिस्टर बैक्सटर (Mr. Baxter) का मत है कि यह तीन पुरुष बुद्धि (Wisdom) शक्ति (Power) और प्रीति (Love) हैं।

(७) बिशप गैस्ट्रल (Bishop Gastrell) कहता है कि ईश्वर के तीन नाम अर्थात् पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा

ईश्वर के तीन भेदों। (Three-fold difference or dis-tinction) को प्रकट करते हैं।

परन्तु इस प्रकार कि ईश्वरत्व की एकता और मिश्रण-रहितता बनी रहे। क्योंकि हर एक से ईश्वर का पूर्ण भाव तथा कुछ अधिक भी पाया जाता है।

(८) मि० होवे (Mr. Howe) के मत में तीन भिन्न भिन्न चेतन सत्तायें इस अनिर्वचनीय विधि से मिल गई हैं कि एक ईश्वर होगया उसी प्रकार जैसे शरीर, इन्द्रियां और बुद्धि मिलकर एक मनुष्य बन जाता है।

(९) डा० शरलक (Sherlock) का कथन है कि :—

"The Father, Son and Holy Ghost, are *as really distinct* Persons as Peter, James. John each of which is God."

"पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा अलग अलग सत्तायें हैं जैसे पीटर जेम्स और जौन। इनमें से हर एक ईश्वर है।"

(१०) डा० हीबर (Dr. Heber) कलकत्ते का तत्कालीन विशप मानता है कि त्रैत के दूसरे और तीसरे पुरुष मिका-ईल और जिब्राईल फरिश्ते हैं।

श्री राजा राममोहनराय कहते हैं कि वस्तुतः ईसाई त्रैत-वाद एक पहेली है जिसका आधार अज्ञान और अन्ध-विश्वास के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। कुछ लोग कहते हैं कि ईसाई धर्म की व्यावहारिक बातों को क्यों नहीं लेते। इस त्रित्व के झमेले में क्यों पड़ते हो? राममोहनराय उत्तर देते हैं कि यदि इस त्रैत पर ईसाई लोग बल न देते, यदि वे इसको अपना गौण सिद्धान्त ही समझते तो हम ऐसा ही कर सकते थे। परन्तु जब बिना त्रैत माने कोई ईसाई तो हो ही नहीं सकता। तो फिर शास्त्रार्थ के समय त्रैत की जांच न करना बड़ी भूल है। यह बाल की खाल खींचना नहीं है किन्तु एक अत्यन्त आवश्यक सिद्धान्त की जाँच करना है।

यह थे राजा राममोहनराय जी के विचार। इन्हीं के प्रचार के लिये उन्होंने ब्रह्मसमाज स्थापित किया और इसका ८ जनवरी सन् १८३० ई० को ट्रस्ट डीड (Trust deed) लिखा गया। उस समय ब्रह्मसमाज के सिद्धान्त यह थे।

(१) वेद और उपनिषदों को मानना चाहिये।

(२) इनमें एक ईश्वर का प्रति-पादन है।

(३) मूर्ति पूजा वेद विरुद्ध है इसलिये त्याज्य है।

(४) बहु विवाह, बाल विवाह, सती की वर्तमान प्रथा यह सब वेद विरुद्ध और त्याज्य हैं।

(५) ईसाइयों में बहुत से अच्छे लोग हैं परन्तु ईसाई धर्म हिन्दू धर्म से किसी प्रकार अच्छा नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि शासकों के धार्मिक विचार भी अच्छे ही हों। और यह शासकों की बड़ी भूल है कि वह पराजित और शासित जातियों पर अपने दोष-पूर्ण धर्म को आरोपित करें।

राममोहनराय सन् १८३० ई० में इङ्गलैण्ड चले गये और वहीं १८३३ ई० में उनका देहान्त हो गया। ब्रह्म समाज उनके पीछे भी चलता रहा। परन्तु इसकी चाल भिन्न भिन्न थी। कभी तेजी से चलता था कभी सुस्ती से। बंगाल की जनता ने इसका विरोध ही किया क्योंकि पुराने लकीर के फ़क़ीर ब्राह्मण मूर्ति पूजा को छोड़ना नहीं चाहते थे। कुलीनों को बहु-विवाह द्वारा धन कमाने और मौज उड़ाने की आदत पड़ गई थी। अत: उनके लिये ब्रह्मसमाज में प्रवेश करना बड़ा कठिन था। परन्तु कुछ पढ़े लिखे मनुष्य अवश्य ब्रह्मसमाज में प्रविष्ट हो जाते थे। कुछ दिनों पश्चात् महर्षि देवेन्द्रनाथ टागौर इसके प्रधान आचार्य थे।

परन्तु ब्रह्मसमाज एक संकट की अवस्था में था। उसका मार्ग एक तङ्ग वाटिका थी जिसके एक ओर बहुत ऊंचा पहाड़

और दूसरी ओर बहुत गहरी खाई थी। पण्डित वर्ग तुले हुए थे कि राजा राममोहनराय के काम पर पानी फेर दें। परन्तु उस समय बंगाल की शिक्षित जनता के विचारों में और परिवर्त्तन हो रहा था। अंगरेजी शिक्षा बढ़ रही थी। डैरोज़िओ (Derozio) और डैविड हेर (David Hare) जो छात्र वर्ग के गुरु समझे जाते थे उनको घोर नास्तिकता और अनाचार की शिक्षा दे रहे थे। इन्होंने सदाचार की जड़ों को मट्ठा पिला दिया था। हिन्दू छात्र माता पिता का विरोध करना, मद्य पीना, गोमांस खाना अपना परम कर्त्तव्य समझने लगे थे। ब्रह्मसमाज में वेद, उपनिषद् आदि का अध्ययन बन्द था। जो लोग स्वतंत्र विचार के थे और पुराने पण्डितों की कुप्रथाओं को बुरा समझते थे वे वैदिक-साहित्य को न पढ़ने के कारण उससे भी अपनी जान छुड़ाना चाहते थे। ब्रह्म-समाजियों से मूर्त्ति पूजा छूटी नहीं थी। वे केवल साप्ताहिक सत्संगों में वैदिक प्रार्थनाओं में सम्मिलित हो जाते थे परन्तु उनके घरों में मूर्त्ति-पूजा यथापूर्व होती थी। महर्षि देवेन्द्रनाथ टागौर मूर्त्ति पूजा नहीं करते थे। परन्तु दुर्गा पूजा के दिनों में घर छोड़ कर यात्रार्थ चले जाते थे। केवल इन्हीं के परिश्रम से ब्रह्मसमाज का प्रातःकाल का दीपक टिमटिमा रहा था। उन्होंने बहुत कोशिश की परन्तु अधिक सफलता नहीं हुई।

केशवचन्द्र सेन

२

ऐसे समय कलकत्ते में बाबू केशवचन्द्रसेन का प्रादुर्भाव हुआ। यह बड़े तार्किक, तीक्ष्ण बुद्धि और विद्वान् युवक थे। महर्षि देवेन्द्र नाथ ने इस युवक को देखा और तुरन्त ही ताड़ गये कि यह होनहार पुरुष ब्रह्मसमाज के लिये उपयोगी होगा। केशव बाबू १८५७ ई० में ब्रह्मसमाज में सम्मिलित हो गये और प्रवेश-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।

केशव के आते ही ब्रह्मसमाज में जान सी पड़ गई, मानों किसी ने टिमटिमाते दीपक में तेल दे दिया या सूखी वनस्पति के लिये वर्षा आ गई। केशव बाबू का बंगाली युवकों पर बड़ा प्रभाव था। वह उच्च वक्ता थे, वह नाटक भी अच्छा खेलते थे। वह ईश प्रार्थना से बड़ा प्रेम रखते थे। उन्होंने बहुत से छोटे बड़े क्लब खोले थे। ब्रह्मसमाज में आकर उन्होंने उसको संगठित करना आरम्भ किया। उनका घर धनाढ्य था परन्तु वे लोग नये विचारों से घृणा करते थे। सब से पहले घर वालों से समुद्र यात्रा पर विरोध हुआ और वे महर्षि जी के

साथ लङ्का चले गये। इन्होंने अपनी स्त्री को ब्रह्मसमाज में लाना चाहा। सब घर वाले विरोध करने लगे। केशव बाबू पुलिस में रिपोर्ट करने पर उतारू हो गये और अपनी स्त्री को टागौर महाराय के घर ले आये। टागौर का परिवार मुसल- मानी समय से बहिष्कृत समझा जाता था क्योंकि इनके किसी पूर्वज ने किसी बादशाह की रकाबी का मांस सूंघ लिया था। यह बात केशव के घरवालों के लिये असह्य थी। इन्होंने तुरन्त ही इनको लिख भेजा कि आज से तुमको घर में लौटने की आज्ञा नहीं। केशवचन्द्रसेन इन सब कठिनाइयों का वीरता से सामना करते रहे। महर्षि देवेन्द्रनाथ टागौर के परामर्श से केशवचन्द्रसेन को ब्रह्मसमाज का मिनिस्टर या आचार्य बना दिया गया और महर्षि जी प्रधान आचार्य कहलाते थे।

परन्तु महर्षि देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्रसेन के विचारों में बहुत भेद था। हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं कि राम- मोहनराय वेदों और वैदिक संस्कृति के पक्षपाती थे। वह सुधार भी चाहते थे तो वैदिक संस्कृति को स्थापित रखते हुए। केशव बाबू नई रोशनी के प्रतिनिधि थे। युवकसमाज पुरानी प्रथाओं को अत्यावश्यक ही नहीं किन्तु हानिकारक समझता था। महर्षि जी में राजा राममोहनराय की सी मौलिकता और

दृढ़ता न थी। उन्होंने १८५० ई० में ही परिस्थिति से मजबूर होकर वेदों के स्वतः प्रमाण मानने का नियम शिथिल कर दिया था। केशव बाबू ने एक संगत सभा खोली थी। इसने जब यज्ञोपवीत की प्रथा को ढोंग बताया तो महर्षि देवेन्द्र नाथ ने अपना जनेऊ उतार दिया और केशवचन्द्रसेन के नीचे जो दो आचार्य नियत किये गये वे भी उपवीतधारी न थे। यह सब देवेन्द्र बाबू ने केशव बाबू से विरोध न हो इसीलिये किया था यद्यपि वे स्वयं तो बहुत कुछ वेदों के पक्षपाती थे। एक कठिनाई थी। देवेन्द्र बाबू सामाजिक सुधार में बहुत पीछे थे। पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह की प्रथा को वैदिक सिद्ध कर दिया था और बड़े परिश्रम से वह विधवा विवाह का कानून भी १८५६ ई० में पास करा चुके थे परन्तु देवेन्द्र बाबू इसको विहित नहीं समझते थे और अन्तर्जातीय विवाह के भी विरुद्ध थे। ब्रह्मसमाजियों में पहला अन्तर्जातीय विवाह १८६२ ई० में हुआ था और केशव बाबू तथा उनके साथियों में इस विषय में उत्साह था परन्तु देवेन्द्र बाबू इसको अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। इस प्रकार यद्यपि देवेन्द्र और केशव में मैत्री थी तथापि ब्रह्म समाज का काम दो भिन्न भिन्न प्रकृतियों और मंतव्यों के महारथियों में बँटा हुआ था।

केशव बाबू पर ईसाइयत का प्रभाव अधिक था। वे बहुत आगे बढ़ना चाहते थे। उनके मस्तिष्क में उपज भी बहुत थी। वह धुन के भी बड़े पक्के थे। वह नित्य नये प्रोग्राम सोचा करते थे। देवेन्द्र नाथ जी के मित्रों ने उनको चुपके चुपके चेतावनी भी दी थी कि इस युवक से सावधान रहना, कहीं यह संस्था को भी हाथ से न निकाल ले जाय। महर्षि देवेन्द्र नाथ टागौर ने पहले छः वर्ष तक उनकी हां में हां मिलाई और भरसक यत्न किया कि केशव बाबू का उत्साह ब्रह्म समाज के हित के ही लिये व्यय हो। परन्तु अन्त में उनका माथा भी ठनका! देवेन्द्र नाथ एक आदर्श हिन्दू समाज स्थापित करना चाहते थे, और ब्रह्म समाज में उपनिषदों के प्राचीन धर्म को प्रविष्ट करना चाहते थे। बाबू केशवचन्द्रसेन के विचार परिपक्व नहीं थे। उनका मन इतना तीव्रगामी था कि उसको एक विचार पर स्थित रखना कठिन था। उनका कोई स्थायी प्रोग्राम ही नहीं था। एक बात थी। ब्राह्म समाज ने आरम्भ से ही जाति पांति भेद का खण्डन किया था परन्तु अब तक ब्राह्म समाज की वेदी पर केवल ब्राह्मण ही चढ़ सकते थे। केशव बाबू अब्राह्मण थे परन्तु इसके साथ ही वह ब्राह्मणों का केवल उनकी जाति या जन्म के कारण आदर नहीं करते थे।

केशव बाबू ने बहुत से ब्राह्मण मित्रों के जनेऊ तुड़वा डाले थे।

देवेन्द्र नाथ को बुरा लगा। उन्होंने सोच लिया कि अब आगे चुप रहना पाप है। एक अवसर भी प्राप्त हो गया। ब्रह्म समाज का मन्दिर गिर पड़ा और साप्ताहिक संग महर्षि देवेन्द्र नाथ के मकान पर होने वाला था। नवम्बर १८६६ ई० का बुधवार था। महर्षि ने पहले दो उपाचार्यों को जो जनेऊ न तोड़ने के कारण पहले उपाचार्य पद से च्युत कर दिये गये थे वेदी पर चढ़ा दिया। केशव बाबू ने विरोध किया। महर्षि ने कहा कि "यह मेरा घर है मैं जैसा चाहूँगा करूँगा"। केशव बाबू ने कहा—"घर अवश्य है पर इस समय तो ब्रह्मसमाज का सत्संग हो रहा है। आपका घर एक प्रकार का समाज मन्दिर ही है।"

यह युक्तियाँ तो ऊपरी थीं। मन में पहले ही से मैल आ चुका था। बस केशव बाबू अपने मित्रों सहित अलग हो गये और उन्होंने "भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज" (The Brahma Samaj of India) नाम की एक नई संस्था खोल ली। पहले ब्रह्मसमाज का नाम अब आदि ब्रह्मसमाज हो गया।

इस प्रकार केशव बाबू स्वतंत्र हो गये और प्राणपन से अपनी नई संस्था की उन्नति में दत्तचित्त हुये। इसके सिद्धान्त

गुरु गोविन्द राय ने संस्कृत में लेख बद्ध किये जिसका अनुवाद यह है—"वृहत् संसार ईश्वर का मन्दिर है। बुद्धि पवित्र तीर्थ स्थान है। सत्य ही नित्य वेद है। श्रद्धा धर्म का मूल है। प्रेम सच्ची आत्मिक शिक्षा है स्वार्थ का नाम सच्चा सन्यास है, ब्रह्मसमाज ऐसा मानता है।" भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज के इन सिद्धान्तों और राजा राममोहनराय की स्थापित आदि ब्रह्म-समाज के सिद्धन्तों में आकाश पाताल का अन्तर था। आदि ब्रह्मसमाज वेद और वैदिक संस्कृति का उद्धारक था। केशव बाबू के ब्रह्मसमाज के सिद्धान्त वस्तुतः कोई सिद्धान्त न थे। सभी धर्म इतनी बातें तो मानते ही हैं। इन सिद्धान्तों के शब्द बड़े रोचक हैं और ऊपरी दृष्टि से देखने से प्रतीत होता है कि किसी संस्था के लिये इनसे उपयोगी सिद्धान्त हो नहीं सकते। परन्तु आज तक कोई संस्था केवल इन सिद्धान्तों को लक्ष्य में रख कर आगे नहीं चल सकी। यदि हम न्याय की भाषा में कहें तो इन सिद्धान्तों में अतिव्याप्ति दोष है। कौन सा धर्म अथवा कौन सी संस्था है जो इस प्रकार के सिद्धान्तों के मानने से इनकार करे ? परन्तु भेदक चिह्न न होने के कारण समाज के सभासदों के सामने कोई ऐसा लक्ष्य नहीं रह जाता जिस तक वह आगे चल सकें। कथन मात्र के लिये तो यह

ठीक है कि ऐसे विस्तृत नियम बनाकर केशव बाबू ने अपने समाज को सर्व प्रिय बना लिया। वेद को मानना, यज्ञोपवीत पहनना आदि आदि बाधायें दूर हो गईं। उनके धर्म का द्वार ईसाई, मुसलमान हिन्दू आदि सब के लिये खुल गया। आरम्भ में इस समाज को वह सर्व प्रियता प्राप्त हुई कि देवेन्द्र बाबू भी दांत तले उँगली दबाते रह गये। उनको आपेक्षतः अपना समाज छोटा प्रतीत होने लगा। उसके गिने चुने सभासद रह गये। परन्तु उन्होंने निश्चय कर लिया कि इस छोटे समाज को राजा राममोहनराय के प्रदर्शित मार्ग पर चलाया जायगा।

केशव बाबू के साथियों ने जो पुरानी संगत सभा के युवक सदस्य थे एक प्रचारक मण्डल बनाना चाहा। उन्होंने आत्म-त्याग का प्रण किया। उन्होंने धन कमाने के व्यवसाय छोड़ दिये। हर एक सभा के दान-पात्र से प्रतिदिन कुछ पैसे निकाल लेता और उसी से निर्वाह करता। आरम्भ में यह लोग सात-आठ थे अब चौबीस-पच्चीस हो गए। यह सब ऐसे धुन के पक्के थे कि दिन भर स्वाध्याय और प्रार्थना तथा धार्मिक कार्यों में लगे रहते थे। एक को फेफड़े का रोग भी था और उसके पास पहनने को कपड़े तक न थे। परन्तु आत्मिक-उन्नति की धुन में शारीरिक कष्टों की कोई परवाह नहीं करता

था। उनका सिद्धान्त था कि "फल की परवाह मत करो।" ऐसा आत्मत्याग चाहे उसके सिद्धान्त कैसे भी हों संसार को आकर्षित किए बिना नहीं रह सकता।

परन्तु आत्म-त्याग और अथाह उत्साह के साथ ही मर्यादित कार्य-क्रम (Definite programme) भी चाहिए। यदि कोई आचार्य अपने शिष्यों से कह दे कि "संसार तुम्हारा लक्ष्य है। चारों ओर मार्ग बने हुये हैं। जिधर चाहो दौड़ चलो।" तो कोई कार्य सिद्ध नहीं होने का। केशव बाबू के इस नये समाज की यही अवस्था थी। इसका अनुभव उनके अनुयायियों को तो न हुआ परन्तु वह स्वयं इस त्रुटि का अनुभव करने लगे। उनको देवेन्द्र बाबू जैसे अनुभवी और बुद्धिमान् पुरुष के परामर्श का अभाव पीड़ा देने लगा। परन्तु अब हो भी क्या सकता था? अब वह कलकत्ते से कुछ दूर पर अपने एक पैतृक बाग में एकान्त सेवन करने लगे। यकायक उनके मन में स्फुर्ति हुई और उन्होंने मार्च १८६६ ई० कलकत्ता मैडिकल-कालेज-थियटर में "ईसा-मसीह, यूरोप और एशिया" (Jesus Christ, Europe and Asia) विषय पर एक प्रभावशाली व्याख्यान दे डाला। इसके कुछ वाक्य उद्धरण करना अत्यावश्यक है :—

(1) Christ's influence, but small rivulet at first, increased in depth and breadth as it rolled along, and swept away in its irresitible tide the impregnable strong holds of error and superstition, and the accumulated corruptions of centuries.

"ईसा मसीह् का प्रभाव आरम्भ में एक छोटा सा नाला था जो आगे चलकर अधिक चौड़ा और गहरा होता गया और अपने तीव्र बहाव के साथ असत्यता और मिथ्या-विचारों के दुर्जेय क़िलों तथा शताब्दियों से इकट्ठे हुए कूरे करकट को बहा ले गया।"

(2) "Sent by providence to reform and regenerate mankind he received from Providence power and wisdom for that great work,"

"ईश्वर ने उसको मनुष्य जाति के सुधार और पुनर्जीवित करने के लिए भेजा था। इसलिए ईश्वर ने उसको शक्ति और बुद्धि भी प्रदान की थी।"

(3) "His tenderness and humility, lamb-like meakness and sympathy, his heart full of mercy and forgiving kindness.'

"उसकी कोमलता और नम्रता, मेमने के समान दीनता और सहानुभूति, उसकी दया और क्षमा से परिपूर्ण हृदय।"

(4) "His firm, resolute, unyielding adherence to truth."

"उसकी सचाई के प्रति दृढ़, अटल, और निश्चल लग्न।"

(5) "Verily, Jesus was above ordinary humanity."

"सचमुच ईसा मसीह साधारण मनुष्य-जाति से उच्च था।"

(6) "Was not Jesus an Asiatic? I rejoice, yea, I am proud in that I am an Asiatic. In fact Christianity was founded & developed by Asiatics in Asia. When I reflect on this, my love for Jesus, becomes a hundredfold intensified. I feel him nearer my heart, and deeper in my national sympathies."

"क्या ईसा मसीह एशिया का नहीं था? मुझे हर्ष है, नहीं नहीं, अभिमान है कि मैं एशिया का हूँ। वस्तुतः ईसाई धर्म को एशिया वालों ने एशिया में स्थापित और उन्नत किया! जब मैं यह विचार करता हूँ तो ईसा मसीह के लिये मेरा प्रेम

सौ गुना हो जाता है। मैं उसको अपने हृदय के अधिक निकट और अपनी जातीय प्रीतियों की गहराई में अनुभव करता हूँ।"

इस व्याख्या से केशवचन्द्रसेन की ख्याति बहुत बढ़ गई। उन्होंने ईसाई धर्म के प्रति भारतवासियों की जो घृणा थी उसको कम कर दिया। उनके ईसाई दोस्त तो समझने लगे कि अब क़िला उनके हाथ में है। परन्तु आदि-ब्रह्मसमाज वालों ने अपने को केशव-बहिष्कार पर बधाई दी। उन्होंने समझा कि केशव का निकलना अच्छा ही हुआ, न जाने वह ब्रह्मसमाज को किस रसातल तक ले जाता। लोगों ने समझा कि अब केशव बाबू ईसाई हुआ चाहते हैं। कलकत्ता हाईकोर्ट के जज मिस्टर नार्मन (Mr. Norman) ने उस व्याख्यान की एक कापी तत्कालीन वायसराय लार्ड लारेंस को दी। उन्होंने इसको ऐसा पसन्द किया कि तुरन्त ही केशव बाबू को चिट्ठी लिखी और अवकाश मिलने पर भेंट की इच्छा प्रकट की।

परन्तु केशव बाबू चिन्ता में पड़ गये। उनमें भावुकता बहुत थी। उनकी बुद्धि की तेज़ी उनके क़ाबू से बाहर थी। यह व्याख्यान उसी का परिणाम था। वह ईसाई होना नहीं चाहते थे। वह कहने लगे कि जनता में मेरे विषय में भ्रम हो गया। इसमें जनता का इतना दोष नहीं था। वस्तुतः

यह उनका ही दोष था। इस भ्रम को दूर करने के लिये उन्होंने कलकत्ते के टौन हाल में "महापुरुष" (Great man) विषय पर एक और व्याख्यान दिया। इसमें उन्होंने पैगम्बरों, द्वैतवाद, ईश्वर और ईश्वरीय ज्ञान पर अपने निश्चित विचार प्रकट किये। उन्होंने कहा कि ईश्वर मनुष्य जाति के प्रति तीन प्रकार से अपना प्रकाश करता है।

(१) एक तो सृष्टि द्वारा।

"Behold the supreme Creator & Ruler of the Universe immanent in matter."

"जगत् के महान कर्त्ता और शासक को सृष्टि में व्यापक देखो।"

(२) दूसरा इतिहास द्वारा।

"There is another revelation ; there is God in History. He who created and upholds this vast universe also governs the destinies and affairs of nations."

"एक दूसरा प्रकाश है अर्थात् इतिहास में व्यापक ईश्वर! जिसने इस विस्तृत जगत् को उत्पन्न और धारण किया वही जातियों के भाग्य तथा कार्यों का भी शासक है।"

(३) आत्मा द्वारा।

"The highest revelation is inspiration where spirit communes with spirit, face to face, without any mediation whatever."

"सब से उच्च ईश्वर का प्रकाश आत्मा में होता है जब आत्मा परमात्मा का साक्षात् करता है और उन दोनों के बीच में कोई दूसरा साधक या शफ़ीअ या बिचौलिया नहीं होता।"

केशव बाबू ने कहा कि यही महापुरुष हैं जो ईश्वर का साक्षात् करते हैं। वे मनुष्य होते हुए भी देव होते हैं। यह व्याख्यान दिया तो गया था भ्रम दूर करने के लिये। परन्तु हुआ उलटा ही परिणाम। ईसाइयों ने कहना आरम्भ कर दिया कि केशव बाबू हिन्दुओं से डर गये। इसीलिये जो कुछ ईसा के विषय में कहा था वह दूसरे महापुरुषों के विषय में भी कह डाला। अब ईसा की विशेषता ही क्या रही ? एक प्रकार से यह बात थी भी ठीक। यदि केशव बाबू पहले "महापुरुषों" पर व्याख्यान देकर तब "ईसा" पर देते तो लोगों को भ्रम का अवसर न मिलता। मेरी समझ में केशव बाबू जितने चमत्कार-मय (illustrious) पुरुष थे उतने महापुरुष (Greatman) नहीं। उनके मौलिक विचार तो कुछ थे

नहीं, उन्होंने कोई प्रोग्राम देश या मनुष्य जाति के सामने नहीं रक्खा। उनमें श्रद्धा और भक्ति बहुत थी। जब उसमें उबाल आता था तो स्वयं वह भी उसको रोक नहीं सकते थे। उन्होंने प्रोफेसर सीली (Prof. Seely) की एक पुस्तक "महापुरुष" (Ecce Hom) पढ़ी थी। उसको पढ़कर ईसा के भक्त हो गये थे और वह व्याख्यान दे डाला था। पीछे से उस पर उन्होंने अपने निज विचार भी जोड़ लिये।

अब केशव बाबू ने पूर्वी बङ्गाल में पर्यटन करके प्रचार करना अरम्भ किया। उनके व्याख्यानों का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। पुराने लोग डर गये। उन्होंने लोगों को ब्रह्मसमाज से बचाने के लिये हरि सभा, धर्म सभा तथा आर्य सभायें खोलना आरम्भ किया। केशव बाबू ने ऐसे जोश और आत्म-त्याग से प्रचार किया कि वह बीमार हो गये और बहुत दिनों तक उनके मस्तिष्क की अवस्था विचलित रही। इस समय उनको कोई परामर्श देनेवाला न था। उनका ईश्वर पर अटल विश्वास था। उनको कुछ कुछ यह भी प्रतीत होने लगा था कि ईश्वर उनको आदेश किया करता है और उनको दिव्य स्फूर्त्ति हुआ करती है। इसी समय अर्थात् १८६७ ई० में उनको अचानक "चैतन्य महाप्रभु" पर अत्यन्त भक्ति हो गई। अब

क्या था ब्रह्मसमाज की प्रार्थना वैष्णव रङ्ग में रङ्ग गई। "ब्रह्म संकीर्तन" होने लगा। केशव बाबू नंगे पैरों मीलों संकीर्तन के साथ फिरते और करताल आदि बजाते। इस प्रकार भारतीय ब्रह्मसमाज की प्रार्थनायें ईसाई प्रार्थनाओं और वैष्णव-प्रार्थनाओं का मिक्स्चर (मिश्रण) रूप थीं।

अब तक केशव बाबू के समाज के लिये कोई मन्दिर न था। जनवरी १८६८ ई० में ब्रह्म मन्दिर का निर्माण आरम्भ हुआ। मार्च १८६८ ई० में बा० केशवचन्द्रसेन बम्बई तथा संयुक्त प्रान्त (पुराना पश्चिमोत्तर देश) आदि में प्रचार करने के लिये निकले। वहाँ उनका अच्छा स्वागत हुआ और बम्बई आदि में प्रार्थना समाज खुल गये जिनको ब्रह्मसमाज का एक प्रकार का बम्बई एडीशन (Bombay Edition) कहना चाहिये। इस यात्रा के पश्चात् मुंगेर में ठहरे। यहाँ उनके भक्ति के व्याख्यानों पर लोग ऐसे लट्टू हुए कि उनको साष्टांग दण्डवत् करते और उनको महात्मा बुद्ध तथा महाप्रभु चैतन्य के समान समझते। कुछ ने यहाँ तक कहा कि हमने इनके सम्बन्ध में अलौकिक बातें भी देखी हैं। कुछ ने कहा—"ईसा में और केशव में बड़े छोटे भाई का ही अन्तर है।"

यह बात केशव के बहुत से साथियों को पसन्द न आई। उन्होंने आक्षेप किया। केशव कहते थे कि यह बात मुझे भी प्रिय नहीं। परन्तु मैं दूसरों को कैसे रोकूं? जसे मेरा आत्मा स्वतन्त्र है उसी प्रकार उनका भी स्वतन्त्र है। वह मेरी पूजा उचित समझते हैं। श्रीयुत पी॰ सी॰ मजूमदार ने जो उनके साथियों में से थे इस विषय में यह लिखा है।

He did not want it, but when it came, he saw in it the hand of God. It was to him valuable testimony that the spirit of God was with him, that his work was true, and his time had come. He did not want to repel the men, who approached him with their homage of admiration lest he might do harm to any part of their better nature, but he gave frequent hints that what they were doing was liable to misrepresentation.. (P. 112)

"वह इसको चाहते न थे, परन्तु जब यह घटना हुई तो उन्होंने जाना कि इसमें ईश्वर का हाथ है। उनके लिये यह एक बहुमूल्य प्रमाण था कि ईश्वर का आत्मा मेरे साथ है, मेरा काम सच्चा है और मेरा समय आ गया है। जो लोग

उनके पास श्रद्धा और भक्ति के साथ आते थे उनको वह दूर करना नहीं चाहते कि कहीं उन लोगों की प्रकृति के उस अंश को हानि न पहुँचे। परन्तु उन्होंने बहुधा यह संकेत कर दिया था कि जो कुछ तुम लोग कर रहे हो उससे भ्रम फैलने की सम्भावना है"। (केशवचन्द्रसेन का जीवन चरित्र पृ० ११२)।

उनके ऊपर यह आक्षेप लाया गया कि तुम अपनी पूजा कराते हो। उसका उन्होंने जो उत्तर दिया वह ऊपर के शब्दों से प्रकट है। उन्होंने एक पत्र में लिखा :—

"I have never fallen into the error of supposing that if I pray to God, as a mediator for others, He will forgive or save them."

"मैंने कभी यह भूल नहीं की कि मैं यह मानलूं कि यदि मैं ईश्वर से दूसरों के लिये प्रार्थना करूँगा तो वह उनको क्षमा कर देगा या उनका उद्धार कर देगा"। केशव चन्द्रसेन महाशय अगस्त १८६८ में मुंगेर से शिमले चले गये क्योंकि लार्ड लारेंस ने उनको बुलाया था। वहाँ इन्होंने अन्तर्जातीय विवाह को विहित (जायज़) करार दिलाने के लिये मैरिज बिल (Marriage Bill) या विवाह का कानून

पेश कराया। वह बिल १० सितम्बर १८६८ ई० को गवर्नर जनरल की कौंसिल में पेश हुआ और बड़े विरोध के बाद १९ मार्च १८७२ को "देशी विवाह का कानून" (Native marriage act) के नाम से पास हुआ। पहले इसका नाम (Brahmo-marriage Act) अर्थात् ब्रह्म-विवाह-एक्ट रक्खा गया था। परन्तु आदि समाज के लोगों ने विरोध किया। वह उस बिल को अपने ऊपर लागू करना नहीं चाहते थे। वह अपने को हिन्दू समझते थे। इसलिये केशव बाबू बिल में कुछ परिवर्तन करने पर राजी हो गये। एक्ट के अनुसार वर और वधू को यह घोषणा करनी पड़ती थी कि हम "हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, बौद्ध, सिख या जैन मत के मानने वाले नहीं हैं"। केशवचन्द्रसेन के परामर्श से उनको ब्रह्मसमाज की ओर से जो प्रार्थना पत्र गया था उसमें स्पष्ट लिखा था कि—

"Term 'Hindu' does not include the Brahmos, who deny the authority of the Vedas, are opposed to every form of Brahmanical religion and being eclectics admit proselytes from Hindus, Mohamedans, Christians, & other religious sects."

अर्थात 'हिन्दू' शब्द ब्रह्मसमाज वालों पर लागू नहीं होता क्योंकि वे वेद को प्रामाणिक नहीं मानते, ब्राह्मण धर्म के सभी पक्षों के विरुद्ध हैं और चूंकि अपने सिद्धान्तों को सबसे चुन कर बनाया है इसलिये हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और अन्य धर्म वाले सभी ब्रह्मसमाज में प्रवेश कर सकते हैं"।

केशवचन्द्र के साथी 'हिन्दू' शब्द को छोड़ना नहीं चाहते थे। उनकी अपनी आदतें भी हिन्दुओं जैसी ही थीं। वह विदेशी फ़ैशन के विरोधी थे। परन्तु या तो वह 'हिन्दू' शब्द को त्यागते या विवाह-एक्ट को। उन्होंने अपने मन को यह सन्तोष दे लिया कि 'हिन्दू' शब्द मूर्त्तिपूजकों के लिये रूढ़ि हो गया है अतः हम इस अर्थ में हिन्दू नहीं हैं।

इसी बीच में केशव बाबू इङ्गलेण्ड भी हो आये। १५ फर्वरी १८७० को गये और १५ अक्टूबर सन् १८७० ई० को बम्बई में वापिस आगये। इङ्गलैण्ड में उनका बड़े समारोह से स्वागत हुआ। उनके व्याख्यानों की धूम रही। उनकी महाराणी विक्टोरिया से भी भेंट हुई। उन्होंने 'ईसाई' धर्म की बहुत प्रशंसा की। बम्बई में प्रार्थना समाज में उनका व्याख्यान हुआ। २० अक्टूबर को वह घर आये।

आने पर जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, विवाह का कानून पास हो गया था। केशवचन्द्र सेन ने इसको अपनी समाज सुधार सम्बन्धी विजय समझा और आध्यात्मिकोन्नति के निमित्त एक आश्रम खोला जिसका नाम "भारत-आश्रम" रक्खा गया। इसमें भ्रातृत्व का भाव उत्पन्न करने के लिये उन्होंने कई ब्राह्म सामाजिक परिवारों को रक्खा। नर नारी भाई बहिन के समान रहते और अपना आध्यात्मिक सुधार करते थे। इस जीवन का मुख्य सिद्धान्त यह था कि अपने वैयक्तिक जीवन को सर्वथा भुला दिया जाय। इससे पहले प्रार्थना अपने कल्याण के लिये की जाती थी। अब सबके कल्याण के लिये की जाने लगी। भोजन साथ, स्वाध्याय साथ, पूजा साथ, काम साथ। "भारत आश्रम" पाँच वर्ष चला और अच्छा चला। परन्तु कुछ लोग केशव बाबू के विरुद्ध हो गये। उसके मुख्य तीन कारण बताये जाते हैं :—(१) केशव बाबू ने मनुष्य-पूजा और विशेष कर अपनी पूजा की प्रथा चला दी (२) केशव बाबू मानने लगे कि ईश्वर भक्तों के मन में अपने विशेष आदेश भेज देता है। (३) कुछ लोग सामाजिक सुधारों में केशव बाबू से सहमत न थे। उनका कहना था कि केशव बाबू स्त्रियों के लिये कुछ नहीं करते। बात यह है

कि केशवचन्द्रसेन जी स्त्रियों की उच्च यूनिवर्सिटी सम्बन्धी शिक्षा के विरुद्ध थे। वह बालविधवा विवाह के तो पक्ष में थे परन्तु स्त्री और पुरुष दोनों के पुनर्विवाहों को अच्छा नहीं समझते थे। वह बाल विवाह के कट्टर विरोधी थे परन्तु वह चाहते थे कि स्त्रियों की मंगनी छोटी अवस्था में ही हो जाया करे। उनको यह बात पसन्द न थी कि लड़कियों का विवाह बड़ी आयु में हो। यद्यपि वह अन्तर्जातीय विवाह के सबसे पहले पोषक थे तथापि उनका कथन था कि जहाँ तक उचित प्रबन्ध हो सके अपनी ही बिरादरी में विवाह करना चाहिये।

इस प्रकार उनके कुछ साथी उनसे अलग हो गये। अब केशवचन्द्रसेन अपना ध्यान योग और भक्ति की ओर अधिक देने लगे। उन्होंने एक बाग लिया जिसका नाम "साधन कानन" रक्खा। यहाँ वह और उनके कुछ साथी योग की साधना करते थे। यहीं से उनको एक नई स्फुर्ना हुई और उन्होंने नव-विधान (New Dispensation) की नींव डाली। अब उनको निराकार-उपासना में आनन्द नहीं आता था। वह हिन्दू मन्दिरों के भजन, पुष्प, दीप, नैवेद्य की ओर आकर्षित हो चले थे। वे कभी कभी रहस्यमय गूढ़ बातें कह

जाते थे जिनका अर्थ दूसरों की समझ में नहीं आता था। पहले तो उनकी प्रार्थनायें केवल शब्द-मय होती थी। अब वह इनके साथ साथ कुछ कृत्य भी चाहते थे। वह कभी किसी मन्दिर में नहीं गये, न मूर्ति पूजी। परन्तु हिन्दुओं की पूजा का सा भाव उनकी पूजा में भी झलकने लगा। नव-विधान या न्यू डिस्पेंसेशन का क्या सिद्धान्त था? इसका कुछ कुछ हाल केशव बाबू के शब्दों में ही सुनिये। जब १८८१ ई० का वार्षिकोत्सव हुआ और नव-विधान का झंडा गाड़ा गया तो उन्होंने कहा था :—

"Behold the flag of the new Dispensation. The silken flag is crimson with the blood of martyrs. It is the flag of the Great King of Heaven & Earth, the one supreme lord...... Behold the spirits of all the prophets & saints of heaven assembled overhead, a holy confraternity in whose union is the harmony of Faith, Hope & Joy. And at the foot of the holy standard are the scriptures of the Hindus, Christians, Mahomedans & Buddhists, the sacred repositories of the wisdom of age and the

inspi ration of saints, our light, and our guide. Four scriptures are here united in blessed harmony, under the shadow of this flag. Here is put together the international fellowship of Asia, Europe, Africa and America."

"नव-विधान के झण्डे को देखो। रेशमी झण्डा शहीदों के रक्त से लाल है। यह झण्डा है परम प्रभु का जो आकाश और भूमि का महाराजा है। देखो सब पैग़म्बरों और स्वर्ग के सन्तों के आत्मा हमारे सिर पर हैं। जिनके सम्मिलन में ही श्रद्धा, आशा और आनन्द है। इस झण्डे के नीचे हिन्दुओं, ईसाइयों, मुसलमानों और बौद्धों के शास्त्र हैं। जिनमें युग-युगान्तर की विद्या और महात्माओं के आदेश हैं जो हमको प्रकाश और उपदेश देते हैं। इस झण्डे की छत्र-छाया में चार शास्त्र सम्मिलित हैं। यहाँ एशिया, यूरोप, अफ्रीका और अमेरिका का अन्तर्जातीय भ्रातृत्व विद्यमान है।"

अब पाठकों की समझ में आगया होगा कि श्रीयुत केशवचन्द्रसेन के नव-विधान का क्या तात्पर्य था। वह एक ऐसा चर्च बनाना चाहते थे जिनमें सभी धर्मशास्त्रों का निचोड़

हो और सभी मतानुयायी मिल सकें। उनकी यह भावना थी कि भारतवर्ष का भावी धर्म उसी प्रकार का होगा। जिस ब्रह्मसमाज में वह श्री देवेन्द्र नाथ टागोर के योग से सम्मिलित हुये थे वह उनको भारतियों की प्रकृति के विरुद्ध जान पड़ा। वह कहते थे कि भारतवर्षीय जनता केवल औपनिषदिक या दार्शनिक धर्म (Metaphysical religion) से तृप्त नहीं हो सकती। मूर्ति-पूजा और बहु-ईश्वरवाद के वह विरुद्ध थे। वह श्रद्धा और भक्ति के प्रचारक थे। परन्तु उनको यह स्वीकार न था कि इस भक्ति का आधार केवल भारतीय हो। उनकी ईसा मसीह पर बहुत श्रद्धा थी। उनके नव-विधान में यह सब सामग्री एकत्रित करने का उपाय किया गया था। १८९२ ई० में उन्होंने एक व्याख्यान दिया था जिसका विषय था। ("That marvellous Mystery. The Trinity") अर्थात् त्रैतवाद का रहस्य। इसमें उन्होंने ऋग्वेद के प्रसिद्ध "नासदासीत्" सूक्त से आरम्भ किया और अन्त में ईसा मसीह के अवतार पर समाप्त किया। इस प्रकार हिन्दुओं के "ब्रह्म" और ईसाइयों के "शब्द" (Logos) का समन्वय कर दिया! जब वह बंगाल में प्रार्थना करते थे तो हिन्दुओं के देवताओं का एक एक करके नाम लेते थे। और कहते थे कि

इनसे ईश्वर की एक एक शक्ति का प्रकाश होता है। सनडे मिरर (Sunday Mirror) नामी पत्र में उन्होंने इस विषय में इस प्रकार लिखा है :—

"Hindu idolatory is not altogether to be rejected or overlooked. As we explained some time ago, it represents millions of broken fragments of God. Collect them together, and you get the indivisible divinity. When Hindus lost sight of their great God, they contented themselves with retaining particular aspects of Him and representing them in human shapes or images.........The Theist rejects the image but he cannot dispense with the spirit of which the image is the form. The revival of the spirit, the destruction of the form, is the work of the new Dispensation."

"हिन्दू मूर्ति-पूजा सर्वथा त्याज्य या अनादरणीय नहीं है। जैसा हमने पहले कहा था यह ईश्वर के लखूखा भग्नशेषों का प्रतिरूप है। इन सब को जोड़ लो और अखण्ड ब्रह्म को पा जाओगे। जब हिन्दू अपने परम प्रभु को भूल गए तो उन्होंने

उसके भिन्न भिन्न स्वरूपों (aspects) को रख लिया और उसको मनुष्यों की आकृति या मूर्तियों द्वारा पूजने लगे……… ब्रह्मसमाजी मूर्ति को त्याग देते हैं परन्तु उस भाव को नहीं त्यागते जिसकी वह मूर्ति प्रति रूप है। नव विधान का उद्देश्य है कि भाव का पुनरुद्धार करे और रूप का विनाश करे"।

इस प्रकार के व्याख्यानों का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ता था। परन्तु बहुत से बुद्धिमान् समझने लगे थे कि केशव बाबू का ब्रह्म समाज फिर पुराने हिन्दू धर्म में मिल जायगा।

केशवचन्द्रसेन ने अपने अनुयायियों के लिये "नव संहिता" अर्थात् नये शास्त्र की रचना आरम्भ की। इसके कुछ भाग न्यूडिस्पेंन्सेशन (New Dispensation) नामी पत्र में निकलते रहे। इसके शीर्षक या विषयों की सूची इस प्रकार है :—गृह और गृहप्रबन्ध। गृहस्थ के दैनिक कर्तव्य, चारपाई से उठना, दैनिक भोजन कार्य्य, मनोरंजन, स्वाध्याय, दान, पारिवारिक सम्बन्ध, सेवक, गृह-कृत्य, प्रतिज्ञायें, ब्रह्मचर्य, वैधव्य इत्यादि इत्यादि। इस शास्त्र में ब्रह्मसमाजियों के दैनिक कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। उनका उद्देश्य

यह था कि ब्रह्म समाजियों के लिये एक शास्त्र रच दें जिस पर वह चल सकें।

८ जनवरी सन् १८८४ ई० मंगलवार को ९ बजे प्रातः-काल श्री केशवचन्द्रसेन का देहान्त होगया। उनका जन्म १९ नवम्बर सन् १८३८ ई० को कलकत्ते में हुआ था। इस प्रकार उनकी आयु देहान्त के समय ४५ वर्ष से कुछ अधिक थी।

श्रीयुत् केशवचन्द्रसेन बहुत बड़े आदमी थे। उनकी शक्तियाँ विशाल थीं। उनमें मनुष्यों को खींचने की शक्ति थी। उन्होंने अपनी वक्तृताओं से भारतीय और अंगरेजों दोनों को चकित कर दिया था। उन्होंने बाल्यकाल से अन्त-काल तक अपना समय हिन्दुओं के सुधार में लगाया। वह नित्य ही आत्म-त्याग और लग्न के साथ काम करते रहे। परन्तु इस चमत्कार-युक्त जीवन में हम एक बात की बड़ी कमी पाते हैं। वह यह कि उन्होंने श्रीयुत राजा राममोहनराय के आरम्भ किये हुये हिन्दू-धर्म-सुधार को किंचित भी आगे नहीं बढ़ाया। उनसे और महर्षि देवेन्द्र नाथ टागौर से इसी लिये भेद हुआ था कि केशव बाबू आगे बढ़ना चाहते थे और देवेन्द्र बाबू उनको रोकते थे। परन्तु जब केशव बाबू स्वतन्त्रता

पूर्वक आगे बढ़े तो लोगों ने उनको बड़े वेग से दौड़ते तो देखा परन्तु यह न जान सके कि वह किधर जा रहे हैं अथवा अपने साथियों को किधर ले जा रहे हैं। उन्होंने सब धर्मों के शास्त्रों को मिलाना चाहा परन्तु न मिला सके। उन्होंने वैदिक ऋषियों के ईश्वरीय ज्ञान को स्वीकार करने से इनकार किया परन्तु यह अनुभव करने लगे कि मुझे भी ईश्वर आदेश देता है। सारांश यह कि केशव बाबू न केवल हमारे ही लिये किन्तु अपने भक्त साथियों के भी लिये एक रहस्यमय व्यक्ति थे। यदि वह भारतीय-ब्रह्मसमाज न खोलते और प्रार्थना समाजों के प्रवर्तक न होते तो हम उनको सन्तों की कोटि में रख कर उनका गुणगान कर सकते थे। परन्तु उन्होंने आरम्भ से ही श्री राममोहनराय के काम को पूरा करने का बीड़ा उठाया। इसको कहाँ तक पूरा कर सके इसका निश्चय हम पाठकों के न्याय पर छोड़ते हैं।

स्वामी दयानन्द

३

जिस समय श्री केशवचन्द्रसेन ब्रह्मसमाज में सम्मिलित होकर हिन्दू-धर्म के सुधार पर विचार कर रहे थे, उन्हीं दिनों में दयानन्द नाम का एक पैंतीस छत्तीस वर्षीय सन्यासी "सत्य की खोज" में इधर उधर भटक रहा था। राममोहनराय के समान उसको भी अल्पायु में मूर्तिपूजा से घृणा होगई थी। राममोहन ऐसे स्थान के रहने वाले थे जहाँ अङ्गरेजी शिक्षा ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध कुछ भाव वायु-मण्डल में प्रवेश कर दिये थे, परन्तु दयानन्द का जन्म ऐसे स्थान में हुआ था, जहाँ मूर्तिपूजा के विरोधियों का नाममात्र भी न था। उसने तो केवल शिव की मूर्ति पर चूहे को चढ़ते देख कर ही निश्चय कर लिया था कि जिस शिव ने जगत् की रचना की है वह इस मूर्ति के रूप में नहीं हो सकता। राममोहनराय की भांति दयानन्द ने अल्पायु में कोई पुस्तक तो मूर्तिपूजा के विरुद्ध नहीं लिखी थी। परन्तु शङ्का मात्र ही पिता को रुष्ट करने के लिये पर्य्याप्त थी। राममोहनराय के समान दयानन्द को उनके पिता ने घर से

निकाला नहीं परन्तु विवाह से बचने के लिये और सत्य की खोज करने के लिये उन्होंने स्वयं ही घर को त्याग दिया।

इस प्रकार राममोहनराय और दयानन्द के बीच में कुछ सादृश्य और कुछ भिन्नता अवश्य है, परन्तु दयानन्द में जल्दबाज़ी न थी। उसने मूर्ति-पूजा पर शङ्का होते ही उसका खण्डन आरम्भ नहीं किया। उसको बाईस वर्ष सत्य की खोज में ही लग गया। दरिद्र, निर्धन, वस्त्रहीन लंगोटबन्द दयानन्द गुरुओं की खोज में गंगा के तट पर और हिमालय की कन्दरा में भटकता रहा परन्तु सत्य का पता न लगा। अन्त में वह मथुरा आया और विरजानन्द नामी एक प्रज्ञाचक्षु संन्यासी से संस्कृत व्याकरण और वैदिक साहित्य पढ़ता रहा।

यह वह समय था जब २४ वर्षीय नववयस्क केशव बाबू ब्रह्मसमाज के आचार्य बन चुके थे और अपनी वक्तृता शक्ति से भारतवर्ष की राजधानी कलकत्ते में अपनी धाक बिठाल रहे थे।

स्वामी विरजानन्द आँख के अन्धे थे। परन्तु उन्होंने स्वामी दयानन्द की आंखें खोल दीं। स्वामी दयानन्द को ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वह लगभग ३८ वर्ष की अन्ध कोठरी की क़ैद से यकायक सूर्य के प्रकाश में लाये गये हों। उनके

हृदय की गांठ खुल गई। उनके सब संशय दूर हो गये। जिस समय स्वामी दयानन्द अपने गुरु से विदा होने लगे तो गुरु विरजानन्द ने उनसे आग्रह किया कि "दयानन्द! वैदिक धर्म का प्रचार लुप्त हो गया तुम इसका पुनरुद्धार करो।"

स्वामी दयानन्द ने व्रत किया कि ऐसा ही करूँगा, और धर्म-सुधार में लग गये। स्वामी दयानन्द ने अङ्गरेजी नहीं पढ़ी थी और अङ्गरेजी पढ़े लिखों के साथ भी नहीं रहे थे। उन्होंने केवल वैदिक साहित्य का स्वाध्याय किया था और अधिक समय योग-अभ्यास में लगाया था। कुछ दिनों ऐसी घोर तपस्या की थी कि शरीर पर दूसरा वस्त्र भी नहीं रखते थे। उन्होंने अपने स्वाध्याय, गुरु के उपदेश तथा अपने निज विचारों से यह निश्चय किया :—

(१) वेद ईश्वरीय ज्ञान है। अतः स्वतः प्रमाण हैं।

(२) उपनिषद् आदि वेद नहीं। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से परतः प्रमाण हैं।

(३) पुराण तंत्र, आदि वेद विरुद्ध और त्याज्य ग्रन्थ हैं।

(४) मूर्तिपूजा पुराणों से विहित है। परन्तु वेद विरुद्ध होने से त्याज्य है।

(५) आजकल हिन्दूधर्म में बहुत गड़बड़ है और मृतक श्राद्ध आदि बहुत सी वेद विरुद्ध बातें प्रचलित हो गई हैं। इनका हटाना चाहिये।

(६) वर्ण चार हैं अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। परन्तु इनका आधार गुण, कर्म और स्वभाव है, जन्म नहीं। इसका अर्थ यह है कि वर्त्तमान जाति बिरादरी जो हिन्दुओं में पाई जाती है त्याज्य है। कोई ब्राह्मण इसलिये ब्राह्मण नहीं है कि वह ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुआ है। वर्ण मनुष्य की पैतृक कमाई नहीं। किन्तु अपनी कमाई है।

(५) बालविवाह सर्वथा वेद विरुद्ध है इसलिये त्याज्य है। स्त्री का १६ वर्ष से और पुरुष का २५ वर्ष से कम आयु में विवाह सर्वथा अवैदिक, अतः निषिद्ध है।

(८) बाल-विधवा-विवाह होना चाहिये क्योंकि वस्तुतः उसका विवाह बालकपन में होने के कारण अनुचित था।

बहुत से अंश में राजा राममोहनराय ने वही सोचा था जो स्वामी दयानन्द ने। श्रीयुत राममोहन जी भी मूर्तिपूजा को वेद विहित नहीं मानते थे और स्वामी दयानन्द भी। वेदों पर दोनों की श्रद्धा थी। परन्तु स्वामी दयानन्द पुराण और तन्त्र आदि हिन्दूधर्म के वर्तमान ग्रन्थों को वेद-विरुद्ध

कह कर अप्रमाणिक कह देते थे। राय जी ने कोई ऐसा भेद नहीं किया था। स्वामी दयानन्द की बात उनके उद्देश्य के अधिक अनुकूल थी। जब लोग पुराण या तन्त्र का राममोहन राय जी के सामने हवाला देते थे तो उनको व्याख्या करने में खींच तान करनी पड़ती थी। उनको कई स्थानों पर लिखना पड़ा कि यद्यपि मूर्तिपूजा पुराण और तन्त्रों में है परन्तु अबोध और अज्ञानियों के लिये है। स्वामी दयानन्द तो पुराण और तन्त्रों को त्याग ही चुके थे। वह तो अज्ञानियों के लिये भी मूर्तिपूजा हानिकारक समझते थे। स्वामी दयानन्द कहते थे कि मूर्तिपूजा अज्ञानियों की चलाई हुई तो है परन्तु वह उनके लिये हितकर नहीं। वह उनके अज्ञान को बढ़ाती और मनुष्य जाति को ईश्वर पूजा से विमुख करती है। जब लोग स्वामी दयानन्द से कहते कि मूर्तिपूजा पूजा के लिये सीढ़ी है तो वह उत्तर देते, "नहीं, भाई, यह तो एक बड़ी खाई है"। वह पुराणों को विष-युक्त अन्न के तुल्य कहा करते थे और लोगों को उपदेश देते थे कि ऋषि-कृत ग्रन्थों को पढ़ो। पुराण तो गप्पग्रन्थ हैं। उन्होंने समझा था कि जब तक लोग पुराणों को पढ़ते रहेंगे और राम कृष्ण आदि को ईश्वर का अवतार मानते रहेंगे उस समय तक मूर्तिपूजा मिट नहीं सकती। किसी वृद्ध

को काटने के लिये उसकी जड़ पर कुल्हाड़ा मारना चाहिये। यह बात केशवचन्द्र सेन के जीवन से प्रमाणित होती है क्योंकि केवल अवतारवाद पर विश्वास रखने के कारण केशव बाबू अन्त में मूर्तिपूजा के बहुत निकट आ गये थे। उनको कहना पड़ा था कि—

"Hindu idolatory is not altogether to be rejected or overlooked."

"हिन्दू मूर्तिपूजा सर्वथा त्याज्य या अनादरणीय नहीं है"।

केशव बाबू के आरम्भ और अन्त के विचारों की शृङ्खला पर ध्यान देने से एक विशेष शिक्षा मिलती है। उनके विचार एक विलक्षण वृत्ताकार मार्ग में घूमते हैं। वह मूर्ति पूजा की घृणा से आरम्भ करते हैं, फिर ईसाई धर्म की ओर झुकते हैं और ईसा को पहले महा पुरुष और फिर ईश्वरावतार के लगभग मान लेते हैं, फिर ईसा के अवतार को हिन्दू अवतारों से मिलाते हैं, फिर हिन्दू देवताओं को ईश्वर का अंश मानने लगते हैं और हिन्दू मूर्ति पूजा को कुछ कुछ प्रशंसा की दृष्टि से देखने लगते हैं। सम्पूर्ण वृत पूरा हो जाता है केवल थोड़ा सा स्थान शेष रह जाता है। स्वामी दयानन्द अवतारों

को वेद विरुद्ध, धर्म-विरुद्ध, युक्ति-विरुद्ध और असम्भव सिद्ध करके मूर्तिपूजन की जड़ को ही उड़ा देते हैं।

ईसाई लोग मूर्ति-पूजा के खण्डन का दावा करते हैं और हिन्दुओं की मूर्तियों का मखौल उड़ाते हैं। इसका उत्तर राजा राममोहनराय ने अच्छा दिया था। केशव चन्द्र सेन तो ईसाइयों की चमक दमक के शिकार होगये। वस्तुतः बात यह है कि जब तक ईसा को ईश्वर का अवतार मानते रहेंगे उस समय तक ईसाई लोग मूर्तिपूजा से बच नहीं सकते। इसी भावना ने कैथोलिक लोगों को ईसा और माता मरियम की मूर्ति पूजने के लिये तत्पर किया और यही भाव अनेक रूपों में ईसाइयों के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में पाया जाता है। स्वामी दयानन्द ने मूर्ति पूजा को जिस ढङ्ग से खण्डन किया है उससे इसका मूल ही उड़ गया है।

मूर्ति-पूजा का खण्डन मुसलमानों ने भी बड़े जोरों से किया था। मुहम्मद साहेब को पैगम्बर मानते हुये भी किसी मुसलमान ने उनकी मूर्ति नहीं पूजी। परन्तु उनको भी काले-पत्थर को पूजना ही पड़ा। इसके अतिरिक्त उन्होंने मूर्तिपूजा खण्डन के बजाय मूर्ति खण्डन आरम्भ कर दिया। उन्होंने मूर्तियां बनाना ही दूषित बता दिया। स्वामी दयानन्द

ऐसा नहीं कहते। वह कहते हैं कि मनुष्य की स्मारक मूर्तियां तो बन सकती हैं परन्तु ईश्वर निराकार है और कभी साकार नहीं हो सकता इस लिये न उसकी मूर्ति बन सकती है न कल्पना ही करनी चाहिये।

राजा राममोहनराय जी ने वेदान्त और उपनिषदों का शांकरभाष्य पढ़ा था और उसी का अंगरेजी अनुवाद भी किया था। उनको वेद पढ़ने का अवसर नहीं मिला था। परन्तु वेदान्त आदि के आधार पर वह वेदों पर श्रद्धा रखते थे। श्री शङ्कराचार्य तथा अन्य आधुनिक पण्डितों का अनुकरण करके उन्होंने उपनिषदों को वेद ही मान लिया था। इस लिये मूल वेद अर्थात् ऋक्, यजुः, साम, अथर्व के विषय में कोई लेख अनुवाद या उद्धरण राजा राममोहनराय के लेखों में नहीं पाये जाते। श्रीयुत् सेन बाबू तो आङ्गल-सभ्यता के सुपुत्र थे। इन्होंने वेदों और संस्कृत ग्रथों को ढकोसला समझ कर छोड़ दिया था। परमहंस राम कृष्ण तथा अन्य संतों के उपदेशों से केवल वह हिन्दू-भक्ति की ओर आकर्षित थे। नव-विधान के जिस झंडे तले उन्होंने हिन्दू शास्त्र, मुसलमान शास्त्र, ईसाई शास्त्र और बौद्ध शास्त्र का संग्रह किया था, उन शास्त्रों में से उन्होंने अधिकतर ईसाई शास्त्र

का ही अध्ययन किया था। उन्होंने एक व्याख्यान केवल ईसा के ही महत्त्व पर दिया था। अन्य महापुरुषों का केवल एक ही व्याख्यान में वर्णन कर दिया था। परन्तु स्वामी दयानन्द की परिस्थिति सर्वथा भिन्न थी। उन्होंने वेद वेदाङ्ग पढ़े थे। अन्य धर्मवालों के ग्रन्थों का तो उन्होंने केवल अन्त में शास्त्रार्थ करते समय अध्ययन किया था। वेद वेदाङ्ग के पढ़ने में उन्होंने निरन्तर और एकाग्र चित्त होकर परिश्रम किया था। वह शांकर-भाष्य या अन्य भाष्यों को प्रामाणिक नहीं समझते थे। वह मूल का अध्ययन करके उस पर विचार करते थे। इसलिये उन्होंने सब से पहले भिन्न भिन्न लोगों के किये हुये वेद-भाष्य तथा शास्त्र-भाष्यों की त्रुटियां दिखाईं और अपना भाष्य करके अपना मार्ग निश्चित किया। भाग्यवश दयानन्द संस्कृत के धुरन्धर पण्डित थे। इसलिये वह मूल ग्रन्थों पर मौलिक विचार कर सकते थे। राजा राममोहनराय जी संस्कृत के विद्वान अवश्य थे। परन्तु उनका चित्त बटा हुआ था। उन्होंने गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते हुये उस सर्वथा प्रतिकूल समय में इतना किया वह बहुत किया। यदि दयानन्द के समान वह भी सन्यासी होकर केवल हिन्दू-धर्म सुधार में ही लगे रहते तो संभव था कि वह

भी उसी परिणाम पर पहुँचते जिस पर स्वामी दयानन्द पहुँचे थे। परन्तु राजकीय झंझटों और अन्यान्य सांसारिक बातों ने राजा राममोहनराय को इतना अवसर ही नहीं दिया। फिर भी वह इतने बुद्धिमान् और अनुभवशील थे कि उन्होंने बड़ा प्रशंसनीय कार्य्य किया।

राजा राममोहनराय की स्वाभाविक प्रवृत्ति हिन्दू-धर्म की ओर थी। और वह वेदों को प्रामाणित मानते थे। परन्तु वे अपने इस सिद्धान्त को अपने जीवन में युक्तियों और प्रमाणों द्वारा इतना पुष्ट नहीं कर सके कि उनके भावी अनुयायी उस पर चल सकते। यही कारण था कि पुष्कल सामग्री के अभाव के कारण श्रीयुत् महर्षि देवेन्द्रनाथ टागौर को अपनी इच्छा और प्रवृत्ति के विरुद्ध केशवचन्द्र के ब्रह्मसमाज में आने से बहुत पूर्व १८५० ई० में ही वेदों की प्रामाणिकता ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों से हटानी पड़ी थी। महर्षि देवेन्द्रनाथ ऐसा करने पर मजबूर थे। दृढ़ विश्वास होते हुए भी उनके पास सामग्री की कमी थी। लोग उन पर आक्षेप करते थे और वे निरुत्तर हो जाते थे। परन्तु स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा के विहित या अविहित होने के प्रश्न से भी पूर्व वेदों की प्रामाणिकता का विषय लिया था। वह कहते थे कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

जिस प्रकार ईश्वर आँख बनाने से पूर्व ही उसकी सहायता के लिये सूर्य्य को उत्पन्न करता है उसी प्रकार बुद्धि देने से पूर्व ही उसकी सहायता के लिये वेद का प्रकाश करता है। उनका सिद्धान्त था कि वेद सृष्टि के आरम्भ में हुये। उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थ पीछे से हुये। इसलिये इनको वेद कहना नहीं चाहिये। सृष्टि के आरम्भ में होने के कारण वेदों में इतिहास नहीं। जहाँ कहीं इतिहास का आभास जान पड़ता है वह इतिहास नहीं किन्तु शब्दों के अर्थ समझने के कारण प्रतीत होता है। इसके लिये उन्होंने यास्क मुनि के निरुक्त से खोज कर एक और बात निकाली। उन्होंने कहा कि वेद आदि ग्रन्थ होने के कारण वैदिक शब्दों के अर्थ यौगिक या योगरूढ़ि हैं रूढ़ी नहीं। ऐतिहासिक नाम रूढ़ी हुआ करते हैं। आरम्भ में शब्द यौगिक अर्थ में ही आते हैं। जब समय व्यतीत हो जाता है तब यौगिक अर्थ न रहकर रूढ़ि अर्थ हो जाते हैं। उदाहरण के लिये सबसे पहले 'लखपति' शब्द यौगिक अर्थों में ही प्रयुक्त हुआ होगा। केवल उसी को लखपति कहते होंगे जिसके पास लाख रुपये रहे होंगे। परन्तु कालान्तर में 'लखपति' व्यक्ति वाचक संज्ञा हो गया। इसका प्रमाण शतपथ ब्राह्मण के अध्ययन से मिलता है। शतपथ में

लिखा है कि 'भरद्वाज' व्यक्ति वाचक संज्ञा नहीं। इसका अर्थ है 'मन' क्योंकि 'भरद्वाज' दो शब्दों से मिलकर बना है भरद्*वाज' 'भरद्' संस्कृत के 'भृ' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'भरना'। 'वाज' नाम है अन्न का। इसलिये 'भरद्वाज' मन का नाम हुआ।

स्वामी दयानन्द के हाथ यह एक बहुमूल्य कुञ्जी आ गई। सायण आदि मध्यकालीन वेदभाष्यकारों ने यास्क को पढ़ा तो अवश्य था परन्तु न जाने उनके हाथ यह कुञ्जी क्यों न लगी। स्वामी दयानन्द ने इस कुञ्जी से वेदों की प्रत्येक कठिनाई को खोलना आरम्भ कर दिया। और उनको प्रतीत होने लगा कि इसकी सहायता से वह वेदों के ऊपर किये गये सभी लांछनों को दूर कर सकेंगे। जब किसी ने कहा कि वेदों में सूर्य्य, अग्नि आदि देवी देवतों की पूजा है तो उन्होंने वेदांगों के आधार पर सिद्ध किया कि 'देव' शब्द ईश्वर के अतिरिक्त साधारण मनुष्यों और चमकीली वस्तुओं के लिये भी प्रयुक्त होता है, जैसे यास्क मुनि निरुक्त में लिखते हैं कि—

देवो दानाद्व वा दीपनाद्व वा इत्यादि

---

* देखो शतपथ ब्राह्मण।

अर्थात् जो दान करे वह देव। जो प्रकाश करे वह देव। इससे उन्होंने परिणाम निकाला कि प्रत्येक देव पूजनीय नहीं है। केवल अग्नि को देव कह देने से अग्नि पूजनीय नहीं हो जाता। देव तो सहस्रों हैं। जिसमें प्रकाश देखो उसे कह लो। परन्तु पूजा केवल एक ईश्वर की ही करनी चाहिये क्योंकि वह देवों का देव महादेव है। इसी प्रकार जब किसी ने कहा कि वेद में 'कृष्ण' शब्द आया है तो स्वामी दयानन्द ने कहा कि यहाँ ऐतिहासिक कृष्ण से तात्पर्य नहीं। 'कृष्ण' शब्द के यौगिक अर्थ लीजिये। 'कृष्ण' शब्द के ऐतिहासिक अर्थ तो उन्हीं ग्रन्थों में लिये जा सकते हैं जो 'कृष्ण' के पश्चात् बने हों।

इसी प्रकार जब ईसाइयों ने हिन्दू दर्शनों के दोष दिखलाये थे तो राजा राममोहनराय ने उनका उत्तर दिया था। परन्तु वह मध्यकालीन दार्शनिक भेदों को दूर नहीं कर सके थे। क्योंकि वेदान्त के शंकर-कृत तथा रामानुज-कृत आदि भाष्यों में सांख्य, वैशेषिक न्याय और योग आदि का स्पष्ट और विस्तृत खण्डन विद्यमान है। इसके होते हुये उनका समन्वय कठिन है। स्वामी दयानन्द ने इन भाष्यों को ही गलत माना और "ब्रह्मसत्य, जगत्-मिथ्या" वाद का खण्डन करने षड दर्शनों का समन्वय कर दिया।

इसी के साथ स्वामी दयानन्द ने एक और सिद्धान्त ठहराया वह यह कि संसार के भिन्न भिन्न धर्म और भिन्न भिन्न भाषायें, चाहे, एशियाई हों, चाहे यूरोपीय, केवल वैदिक भाषा का विकृत रूप हैं ('विकसित रूप नहीं.')। वह कहते हैं कि बौद्ध और पारसी धर्मों में वेदों का बातें पाई.जाती हैं। ईसाई धर्म की नक़ल है। मुसलमानी धर्म ईसाई और पारसी धर्म का कुछ कुछ मिक्सचर है। बाबू केशवचन्द्रसेन ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया था नहीं तो वह 'ईसा' पर व्याख्यान देने के स्थान में 'बुद्ध' पर व्याख्यान देते क्योंकि जो कुछ अच्छी बातें बाइबिल में पाई जाती हैं उन सब का उल्लेख बहुत पूर्व बौद्ध ग्रन्थों और बुद्ध के उपदेशों में आ चुका है। स्वामी दयानन्द के इस सिद्धान्त ने वैदिक धर्म या हिन्दू धर्म को उसके शुद्ध रूप में संसार के सभी धर्मों से उत्कृष्ट ठहरा दिया। उन्होंने १८६९ ई० में काशी के पंडितों से इस बात पर शास्त्रार्थ किया कि मूर्तिपूजा वेद विरुद्ध है। यह शास्त्रार्थ बड़े मारके का था। उसके पश्चात् उन्होंने मुसलमान मौलवियों और ईसाई पादरियों से शास्त्रार्थ करके वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की उत्कृष्टता दिखाई।

राजा राममोहनराय और महर्षि देवेन्द्रनाथ टागोर ने ब्रह्मसमाज के दरवाजे सब के लिये नहीं खोले थे। बाबू

केशवचन्द्रसेन ब्रह्मसमाज को एक सार्वभौमिक चर्च बनाना चाहते थे और हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई, पारसी, बौद्ध हर किसी को ब्रह्मसमाज में प्रविष्ट होने की आज्ञा थी। परन्तु केशव बाबू ने एक बात नहीं सोची थी। वह यह कि इन सब धर्म-ग्रन्थों और धर्म-सिद्धान्तों में परस्पर विरोध होते हुये यह लोग आपस में किस प्रकार मिलेंगे। यदि यह कहा जाय कि जिसको जो धर्म प्रिय हो वह उसी धर्म को माने, परन्तु मनुष्य के नाते से वह प्रेम पूर्वक रहे। तो इस सिद्धान्त के आधार पर कोई चर्च नहीं बन सकता। केवल ऊपरी मेल हो सकता है। भिन्न भिन्न मत रखते हुये भी हम व्यापार, राजनीति, देश भ्रमण आदि कार्यों में एक हो सकते हैं। यह अभिप्राय बिना नया चर्च स्थापित किये भी हो सकता है। और यदि यह कहा जाय कि भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी अपने उन सिद्धान्तों को सर्वथा त्याग दें जिनमें मत भेद है और केवल उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर एक नया चर्च बना लें जो सब धर्मों में एक से हैं, तो यह भी असम्भव है। प्रथम तो लोग ऐसा करना चाहेंगे नहीं। दूसरे यदि चाहें भी तो संभव नहीं। उदाहरण के लिये एक सिद्धान्त लीजिये। बौद्ध जैन और वैदिक धर्मी पुनर्जन्म को मानते हैं। ईसाई,

मुसलमान नहीं मानते। अब इसका क्या इलाज है? नया चर्च क्या करेगा? न तो ईसाई मुसलमान पुनर्जन्म मानने पर राजी होंगे न हिन्दू छोड़ने पर। यह तो हो सकता है कि एक नया आचार्य उठे और सब धर्मों में से कुछ कुछ लेकर एक नया धर्म स्थापित कर दे और उसके सिद्धान्त अलग नियत कर दे। ईसाई, मुसल्मान, हिन्दू या पारसी जो उन सिद्धान्तों को मानना चाहें वह अपने अपने पुराने धर्मों को छोड़कर नया धर्म स्वीकार कर लें; जैसा मुहम्मद साहेब या अन्य धर्म के प्रवर्त्तकों ने किया। और केशव बाबू भी अन्त में करना चाहते थे। परन्तु यह तो रोग का निदान नहीं किन्तु और भी बड़ा रोग है। इसका सीधा अर्थ यह नहीं है कि हमने चारों धर्मों को मिला दिया। यों कहना चाहिये कि अब तक केवल चार ही धर्म थे। अब एक पांचवां और खड़ा हो गया।

स्वामी दयानन्द ने कुछ भिन्न ही कहा। उन्होंने कहा कि मैं कोई नया धर्म नहीं स्थापित करता। वैदिक धर्म में पीछे से जो दोष आ गये हैं उनको छोड़ दो। और शुद्ध सनातन वैदिक धर्म को ग्रहण करो। ईसाई, मुसलमान, यहूदी, पारसी बौद्ध, जैन, हिन्दू जो कोई वैदिक सिद्धान्त को मानना चाहे वह उस धर्म में शामिल हो सकता है। जाति पांति, बिरादरी

आदि के रोग की उन्होंने यह औषध बताई कि जब कोई वर्ण जन्म से माननीय नहीं तो ईसाई मुसलमान आदि के प्रवेश में क्या कठिनाई ? चाहे किसी का बाप पादरी हो, या मौलवी या परिडत जब वह वैदिक धर्म में आता है तो हम उसको वर्त्तमान गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार ही मानेंगे। इस प्रकार १८७५ ई० में उन्होंने 'आर्य्यसमाज' नामक संस्था स्थापित कर के सब के लिये उसका द्वार खोल दिया।

अन्य सामाजिक सुधारों के विषय में हम कह ही चुके हैं। राजा राममोहनराय सती की प्रथा के विरुद्ध थे और उन्होंने ईसाई मिशनरियों की सहायता से उसे बन्द कराया था। परन्तु वह इसको हिन्दू-धर्म के विरुद्ध नहीं सिद्ध कर सके थे। वह केवल इतना कहते थे कि किसी को सती होने के लिये बाध्य करना शास्त्र से विरुद्ध है। वह लिखते हैं :—

Ungeera and Vishnoo, and also the modern Rughoonundun authorize a window to burn herself voluntarily along with the corpse of her husband; but modern Brahmuns, in direct opposition to their authority allow her relations to bind the mournful and infatuated window

to the funeral pile with ropes and bamboos, as soon as she has expressed a wish to per-form the dreadful funeral sacriface to which the Brahmuns lend a ready assistance. (*the works of Rajo* Ram mohan Ray, *centenary edition page. 133.*)

"अङ्गिरा, विष्णु और आधुनिक रघुनन्दन ने स्त्री को पति की मृत्यु पर सती होने की आज्ञा मात्र दी है। परन्तु इसके विरुद्ध आज कल के ब्राह्मण रोती हुई विधवा को चिता से जबरदस्ती बंधवा देते हैं इत्यादि! परन्तु स्वामी दयानन्द ने स्त्रियों के अधिकार हर बात में पुरुषों के समान बताये हैं। वह अङ्गिरा, विष्णु और रघुनन्दन आदि की बनाई हुई आधुनिक स्मृतियों को वेद विरुध और कपोल कल्पित ठहराते हैं। वह कहते हैं कि लोगों ने वेदों का मत न समझकर मनमानी बातें ऋषियों का झूठा नाम रखकर गढ़ली हैं। वेदों में सती की प्रथा की गंध भी नहीं। न स्त्री या शूद्र को वेद पढ़ने का निषेध है। न स्त्री के लिये उच्च-शिक्षा वर्जित है। न स्त्री के लिये यह आवश्यकता है कि उसकी मँगनी छोटी आयु में ही कर देनी चाहिये। उन्होंने वेद मंत्रों को उद्धृत करके और पुराने ब्राह्मण ग्रन्थों को साक्षी देकर यह सिद्ध किया कि स्त्रियाँ वेद

पढ़ती थीं पूरी आयु पर ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करने के पश्चात् विवाह करती थीं और कोई ऐसा अधिकार नहीं था जो पुरुषों के लिये हो और स्त्रियों के लिये नहीं। वर्णों को जन्म के आधार पर न मानकर उन्होंने अछूतों और शूद्रों के प्रश्न को बड़ी अच्छी तरह हल कर दिया था।

बाबू केशवचन्द्रसेन का अन्त में यह विचार हो गया था कि केवल निराकार ईश्वर की निराकार पूजा सर्वसाधारण को धर्म की ओर आकर्षित न कर सकेगी। इसलिये उन्होंने बाजे गाजे के साथ संकीर्त्तनों की प्रथा डाली थी। वह मूर्ति-पूजा को शामिल करना चाहते न थे। समस्या तो विकट थी। परन्तु यह कठिनाई उनको इसलिये पड़ी कि वह यज्ञ, हवन, यज्ञोपवीत आदि बाह्य चिह्नों को छोड़ चुके थे। स्वामी दयानन्द ने यज्ञों की भौतिक विज्ञान द्वारा व्याख्या करके उनकी श्रेष्ठता और अनिवार्यता पर बल दिया था। वह यज्ञों को धर्म का मुख्य अङ्ग समझते थे जैसा कि वेदों में कथन है। यज्ञ हवन जिस प्रकार योगियों और अध्यात्मवादियों के लिये आकर्षक होते हैं उसी प्रकार सर्व-साधारण के लिये भी। यही कारण है कि साधारण जनता, मूर्त्ति-पूजा से विरुद्ध होते हुए और निराकार ईश्वर की निराकार उपासना करते हुए भी यज्ञ हवन में

सम्मिलित होती और धर्म को नीरस और और शुष्क नहीं समझती।

स्वामी दयानन्द ने एक बात और की। उसकी ओर राजा राममोहनराय या केशवचन्द्रसेन का ध्यान नहीं गया। वह था आर्यभाषा या हिन्दी का प्रश्न। राममोहनराय जी ने जो कुछ किया वह केवल बङ्गाल के लिये। उनके समय का बङ्गाल था भी अलग अलग। केशवचन्द्रसेन ने अवश्य भारतीय-ब्रह्मसमाज स्थापित की थी। परन्तु उन पर अंगरेज़ी का इतना रंग जमा था कि वे अंग्रेज़ी के द्वारा ही भारतीयता लाना चाहते थे। उस समय के अंग्रेज़ी पढ़ों में यह रोग भी था। आरम्भ में केशवचन्द्रसेन को जब ब्रह्मसमाज में बङ्गला भाषा में व्याख्यान देने होते थे तो वह उस उत्तमता से कृतकार्य नहीं हो सकते थे जैसे अंग्रेज़ी में। उनके मुख्य मुख्य व्याख्यान अंगरेज़ी में ही दिये गये। एक तमाशे की बात है। जब स्वामी दयानन्द केशवचन्द्रसेन से मिले उस समय वह केवल संस्कृत ही बोलते थे और पण्डितों से मूर्त्ति-पूजा-विषयक शास्त्रार्थ करते थे। केशव बाबू ने स्वामी दयानन्द को सुझाया कि आप सर्व साधारण की भाषा में बोलिये। स्वामी दयानन्द ने उनके इस परामर्श को स्वीकार किया और आर्यभाषा अर्थात् हिन्दी में

बोलने लगे। परन्तु आश्चर्य यह है कि केशव बाबू ने स्वयं अपनी बात पर कार्य्य नहीं किया। स्वामी दयानन्द गुजराती थे। उनकी मातृ-भाषा गुजराती थी। उनको हिन्दी आती भी न थी। परन्तु उन्होंने विचारा कि यदि भारतवर्ष में हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म का सुधार करना है तो हिन्दी भाषा का प्रचार करना चाहिये। उनको निश्चय हो गया था कि यद्यपि संस्कृत देववाणी है और शिक्षित पण्डितों की भाषा है तो भी यह सर्व साधारण की मातृभाषा नहीं बन सकती। रही अंग्रेजी यह तो हिन्दू सभ्यता के सर्वथा ही विपरीत थी। प्रत्येक भाषा अपने देश की सभ्यता तथा इतिहास तथा जातीय भावों की कोष होती है। यदि किसी देश में विदेशीय भाषा का संचार हो जाय तो उसकी सभ्यता में बहुत बड़ी उथल पुथल आ जाती है। यह जानकर स्वामी दयानन्द ने हिन्दी को अपने लेख तथा व्याख्यानों का साधन बनाया और प्रत्येक आर्य-सामाजिक के लिये आर्य भाषा सीखना आवश्यक बताया। स्वामी दयानन्द को 'हिन्दू', 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तान' शब्दों से प्रेम न था वह इनको विदेशी समझकर अन्य विदेशी वस्तुओं समान इनसे उपेक्षा करते थे। वह हिन्दू के स्थान में 'आर्य' हिन्दी के स्थान में 'आर्य्यभाषा' और हिन्दुस्तान के स्थान में

'आर्यावर्त्त' शब्दों का प्रयोग थे परन्तु करतेउनका तात्पर्य 'आर्य' 'आर्यभाषा' और 'आर्यवर्त्त से वही था जो आजकल प्रायः लोग 'हिन्दू,' 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तान' शब्दों से लिया करते हैं।

आर्यसमाज स्थापित करने से पूर्व स्वामी दयानन्द ने सभी भारतीय नेताओं से परामर्श लिया था। श्री केशवचन्द्रसेन जी से भी बातचीत की थी। वह चाहते थे कि ब्रह्मसमाज या प्रार्थना-समाज को ही आर्यसमाज का रूप दे दिया जाय। यदि केशव बाबू के स्थान पर राजा राममोहनराय जी होते तो अवश्य ही ऐसा होने की आशा थी क्योंकि मूल में राय जी की भी वही इच्छा थी जो स्वामी दयानन्द की। परन्तु जो केशव बाबू महर्षि देवेन्द्रनाथ टागौर का ही साथ न दे सके वह स्वामी दया-नन्द के अनुकूल कैसे होते? प्रार्थना समाज और ब्रह्मसमाज के लोगों से स्वामी दयानन्द का मतभेद वेदों की प्रामाणिकता पर था। वह लोग इस मर्यादा को स्वतन्त्रता के पथ में बाधा समझते थे। स्वामी दयानन्द देख चुके थे कि मर्यादा रहित स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता का रूप धारण कर परतन्त्रता से भी अधिक हानि-कारक सिद्ध होती है। केशव बाबू के नव-विधान का यही हाल हुआ था। इसलिये स्वामी दयानन्द अपनी बात पर अटल रहे और आर्यसमाज के नीचे लिखे दस नियम बनाये :—

नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्व-शक्ति-मान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना योग्य है।

३—वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है; वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्यग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीति-पूर्वक, धर्मानुसार यथा योग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्व हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र हैं।

उन्होंने अपने वृहद्ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्मसमाज के विषय में लिखा है कि यह लोग स्वदेश प्रेम नहीं रखते। ऋषि मुनियों के स्थान में ईसा आदि की प्रशंसा करते हैं, अंग्रेजी पर अधिक बल देते हैं और स्वदेशी वस्तुओं के स्थान में विदेशी

वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। केशव बाबू के ब्रह्मसमाज में यह सब बातें उपस्थित थीं। स्वामी दयानन्द इन्हीं के विरोधी थे। वे सुधार तो चाहते थे परन्तु स्वदेशी ढंग का। विदेशी सुधार को सुधार नहीं किन्तु जातीय मृत्यु समझते थे। उन्होंने मनु का एक श्लोक उद्धृत करते हुए लिखा है कि एक समय आर्यावर्त सब देशों का गुरु था। इससे लोग आचार व्यवहार की शिक्षा लेते थे। आज यह ऐसा गिरा है कि अपने उच्च आदर्श छोड़कर दूसरों के निकृष्ट आदर्शों के पीछे दौड़ता है। वेद, हिन्दी और स्वदेश प्रेम की शिक्षा देकर स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज को सार्वदेशिक बना दिया।

यहाँ एक गौण प्रश्न है। क्या स्वामी दयानन्द हिन्दू-धर्म-सुधारक थे? हमने यहाँ इसी नाते से राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द का साथ साथ उल्लेख किया है। उनके अनुयायियों में इस विषय में मतभेद है। बहुत से लोग स्वामी दयानन्द को हिन्दू-धर्म-सुधारक कहने में उनकी अव-हेलना समझते हैं। हमारा इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यह है कि यदि वर्तमान हिन्दू-धर्म को प्राचीन वैदिक-धर्म का विकृत तथापि अन्य धर्मों की अपेक्षा निकटतम रूप समझा जाय तो शुद्ध वैदिक-धर्म का प्रचार करने के कारण स्वामी दयानन्द हिन्दू-

धर्म-सुधारक अवश्य हुये। परन्तु यदि हिन्दू-धर्म के संकुचित और साम्प्रदायिक अर्थ लिये जायँ तो उनको हिन्दू-धर्म-सुधारक की अपेक्षा प्राचीन वैदिक धर्म-उद्धारक कहना अधिक उपयुक्त होगा। हमारी समझ में तो आशय एक ही है शब्दों का भेद है।